जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 7 • जुलाई, 2004

With best compliments from :

Our Respectful Homage to...

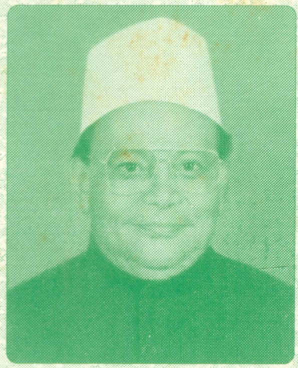

Late H. RATANCHAND NAHAR

RATANCHAND RAMESHCHAND

HIRE PURCHASE FINANCIERS FOR :

ALL VEHICLES

Head Office

"HEERAA MANSION"
20, GENERAL MUTHIA MUDALI STREET
SOWCARPET, CHENNAI 600079
Telephone Nos. : 25366570 / 25366573

Branch Office

BANGALORE : "RATAN MANSION", 35 (OLD No.: 170)
VIth Cross, Gandhi Nagar, BANGALORE 560009
Telephone : 22250825, 22265751 Telefax : 080-22256738
e-mail:ramepav@bgl.vsnl.net.in.

Our Associates

- H. RATANCHAND NAHAR & SONS
- SITA AUTO FINANCE
- RAMESHCHAND PAVANCHAND
- RAMESHCHAND NAHAR & SONS
- SHOBA CREDIT CORPORATION
- PAVAN INVESTEMENTS
- ANJANA INVESTMENTS

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • जुलाई, 2004 • अंक 7

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
समाधि से समाधान

14
प्रो. कल्याणमल लोढा
श्रद्धा तत्त्व : एक विवेचन

20
प्रो. भागचंद्र जैन 'भास्कर'
श्रमण दर्शन की व्यापकता

25
डॉ. संपूर्णानन्द
समाज और धर्म

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

29
मुनि बुद्धमल्ल
तेरापंथ का उदय

•

30
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
तेरापंथ की शक्ति का रहस्य

35
समणी शारदाप्रज्ञा
शाश्वत सत्य के अन्वेषक

38
कहानी
राधावल्लभ
वायवा

45
कविता
राजकमल चौधरी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-करुणा

शीलन

49
साध्वी नगीना
मोक्ष : एक अनुचिंतन

52
साध्वी विमलप्रज्ञा
भिक्षु की क्रांति का आलोक

55
बालकथा
परिमिता पी लोढा
मम्मी मोटी क्यों है : प्रांशु के पंख लगाओ

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

निमंत्रण सबको, भोजन एक को

साधुपन स्वीकार कर उसे भली-भांति पालता है, वह महान पुरुष होता है। कुछ कहते हैं—'पांचवें आरे में पूरा साधुपन नहीं पाला जा सकता। इस समय ऐसा ही साधुपन पाला जा सकता है।' इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया।

किसी ने भोजन के लिए पूरे परिवारों को निमंत्रण दिया। भोजन के समय वह प्रत्येक परिवार में से एक-एक व्यक्ति को भीतर ले जाता है, शेष सबको बाहर ही रोक देता है।

लोगों ने कहा—'तुमने पूरे परिवार को सामूहिक निमंत्रण दिया और उनमें से एक-एक को भोजन करने भीतर ले जाता है—यह क्यों?'

तब वह बोला—'मेरी सामर्थ्य इतनी ही है।' उसने आगे कहा—'अमुक ने अपने पिता के पीछे धूल उड़ा दी, मृत्यु-भोज किया ही नहीं। मैं एक-एक को तो भोज कराता हूं।'

तब लोगों ने कहा—'तुम भी मृत्यु-भोज नहीं करते तो कौन तुम्हारे द्वार पर आकर धरना देता? पूरे परिवारों को सामूहिक निमंत्रण देकर एक-एक को भोजन कराते हो, इससे तुम्हारा जन्म बिगड़ता है।'

इसी प्रकार दीक्षा लेते समय पांच महाव्रत स्वीकार करता है और आचरण के समय उनका पूरा पालन नहीं करता, उसके इहलोक और परलोक, दोनों बिगड़ जाते हैं।

❑

दिवालिया कौन?

साधु का आचार बताया जाता है, उसे कुछ शिथिल आचार वाले निंदा मानते हैं। इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—

एक साहूकार अपने बेटे को शिक्षा देता है—'जिससे उधार ले, उसकी राशि लौटा देनी चाहिए। न लौटाने वाले को लोग दिवालिया कहते हैं।' उसका पड़ोसी दिवालिया था। यह सुनकर वह जल-भुन जाता है। वह कहता है—'यह बेटे को शिक्षा नहीं दे रहा है, मेरी छाती को जला रहा है, हृदय पर आघात लगा रहा है।'

इसी प्रकार कोई साधु साधु का आचार बतलाता है, उसे सुनकर वेषधारी साधु जल-भुन जाता है और कहता है—'यह मेरी निंदा कर रहा है'।

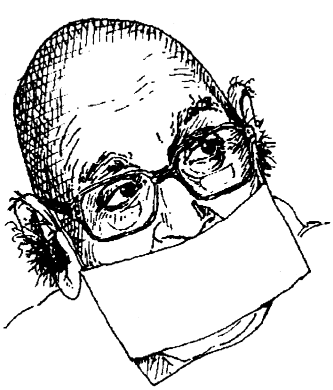

संसार में अनेक मत हैं, पंथ हैं, पर हमें उनसे लड़ना-झगड़ना नहीं है—उन पर आक्षेप नहीं करना है। हमारा कार्य तो सिर्फ इतना ही होना चाहिए कि उन मतों में समाहित सत्तत्त्वों को जीवन में उतारा जाए। सब धर्मों के मौलिक तत्त्व समान हैं। उनका लक्ष्य एक है, पर देखना यह है कि उनके नियम, शील और व्रत उनके अनुयायियों के जीवन में कितने उतरे हैं? अपने-आप को उच्च और धार्मिक समझने वाले जीवन को निर्लेप, शुद्ध, सात्त्विक और पवित्र बनाएं।

धर्म के नाम पर दिखावा, प्रदर्शन और आडंबर को प्रोत्साहन दिया गया तभी तो धर्म बुद्धिजीवियों को आकृष्ट नहीं कर पा रहा है। टीका, टिप्पणी, ईर्ष्या, जलन और देखादेखी से मानव क्या लाभ पा सकेगा? इससे तो नुकसान ही होगा। अतः मैं चाहूंगा कि प्रत्येक व्यक्ति धर्म के अहिंसा, सत्य और एकतामूलक रूप को अपने जीवन में ढाले।

—आचार्यश्री तुलसी

संयम जीवन है और असंयम मृत्यु है। जहां असंयम है, वहां जीवन भी मृत्यु के समान बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति महात्मा नहीं बन सकता पर वह सदात्मा अवश्य बने। जो कभी असत्य संभाषण नहीं करता, क्रोध और नशे से दूर रहता है, कुछ समय निकालकर आत्मचिंतन करता है—वह महात्मा बन सकता है।

वही व्यक्ति त्यागी कहलाता है जो प्राप्त भोगों का स्वेच्छापूर्वक परित्याग करता है। अभावग्रस्त होने के कारण विवशता से जो भोगों का आसेवन नहीं करता, वह वस्तुतः त्यागी नहीं होता है। त्याग का मूल है—अनासक्ति की चेतना का विकास।

धर्म का एक रूप है उपासना और दूसरा रूप है आचरण की शुद्धि। उपासना के साथ यदि भावों की पवित्रता भी जुड़ी रहे तो बहुत बड़ा लाभ प्राप्त किया जा सकता है। उपासना के साथ आचरण-शुद्धि का योग जीवन की समग्रता का प्रतीक है।

—युवाचार्य महाश्रमण

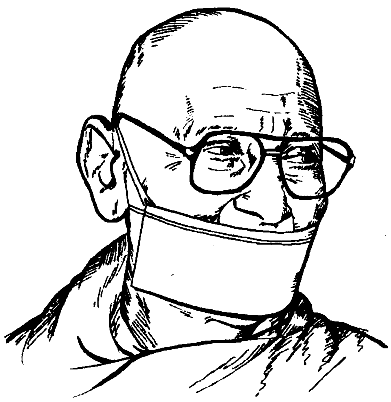

हम जानते हैं, देखते हैं—किंतु हमारा जानना भी शुद्ध नहीं है और देखना भी शुद्ध नहीं है। दही में चीनी मिली हो तो न दही का स्वाद रहा और न चीनी का ही स्वाद रहा। तीसरे स्वाद की उत्पत्ति हो गई। दही का खट्टापन भी नहीं रहा और चीनी की मिठास भी नहीं रही। ऐसा ही कुछ चैतन्य के साथ हो रहा है। न चैतन्य का ही पूरा स्वाद प्राप्त है और न पुद्‌गल का ही पूरा स्वाद प्राप्त है। तीसरा मिला-जुला स्वाद प्राप्त है। इसे ही हम बहुत बड़ी उपलब्धि मान रहे हैं। यदि चैतन्य का शुद्ध स्वाद कभी प्राप्त हो जाए तो पता चल सकता है कि वह स्वाद कितना अनुपम है। एक बार भी यदि हम उस स्वाद तक पहुंच गए तो फिर वहां से लौटना नहीं होगा। साधक उसे छोड़ नहीं पाएगा। एक बार भी यदि उस ज्योतिपुंज की झलक मिल जाए तो साधक उसके लिए पागल हो जाएगा। फिर वह प्राणों की बलि दे सकेगा, मृत्यु को सहर्ष स्वीकार कर सकेगा, पर उस अपूर्व अनुभूति को नहीं छोड़ सकेगा। उसके लिए वह अनुभूति ही सब-कुछ होगी। यह है अध्यात्म का मार्ग। यह मार्ग कंटकाकीर्ण है, संघर्षों से भरा है। अध्यात्म के मार्ग पर बढ़ने वाला साधक पग-पग पर संघर्ष करता जाता है। उसका मार्ग सीधा नहीं है, टेढ़ा-मेढ़ा है। यात्रा छोटी, यात्रा-पथ छोटा, सब-कुछ छोटा, किंतु है बहुत टेढ़ा-मेढ़ा। इस मार्ग पर ही हमारे विवेक की चेतना जागती है। हमें अस्तित्व का बोध होता है और हेय-उपादेय की स्पष्ट दृष्टि विकसित होती है, प्रत्याख्यान की चेतना जागती है, अपने-आप सब-कुछ छूटने लगता है। जो मनुष्य केवल छोड़ने को चलता है, तो जिसे वह छोड़ना चाहता है, वह वस्तु उसके पीछे दौड़ती है—यह सच है। किंतु विवेक का अर्थ केवल छोड़ना नहीं है। प्रत्याख्यान तब होता है जब हेय और उपादेय—दोनों हमारे सामने होते हैं। दोनों प्रतिमाएं हमारे सामने होती हैं। इन दोनों में जो प्रतिमा आर्कषक होती है, वह हमें अपनी ओर खींच लेती है। प्रत्याख्यान तभी सधता है जब उपादेय की प्रतिमा आकर्षक होती है, शक्तिशाली होती है। हेय अपने-आप छूट जाता है। उसे प्रयत्नपूर्वक छोड़ने की आवश्यकता ही उत्पन्न नहीं होती।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-करुणा

दया और करुणा का शब्दार्थ लगभग एक ही है। धर्मग्रंथों में दया के अनेक प्रसंग हैं। अहिंसा की जहां भी बात हुई है—दया की चर्चा रही ही है। सामाजिक व्यवहार का सर्वोपरि तत्त्व करुणा या दया माना गया है। हमारे धर्माचार्यों ने माना है कि दया के बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती, इसलिए अहिंसा में दया के होने का नियम है।

दया और दान के प्रसंग पर एक समय में बड़ी विचारोत्तेजक बहस चल चुकी है। तेरापंथ के संस्थापक आचार्यश्री भिक्षु तत्समय में दया और दान की बहस में बड़े विवादास्पद रहे। अहिंसा व धर्म के साथ दान और दया से जुड़े कई अटपटे, कहा जा सकता है कुतर्कभरे सवालों की रोचक बहस तब चल चुकी है। तेरापंथ की स्थापना को आज दो सौ पैंतालीस वर्ष हो चुके। आचार्यश्री भिक्षु के समय चली वह बहस आज कितनी प्रासंगिक है—इस प्रसंग पर इस समय हम नहीं जाना चाहते, पर यह मानते हैं कि अहिंसा और दया को लेकर उस समय चली बहस ने विचारशील लोगों को निश्चय ही प्रभावित किया। कई तरह के विभ्रम उस बहस के जरिए छंटे। तेरापंथ स्थापना दिवस (आषाढ़ पूर्णिमा, 2 जुलाई) के अवसर पर प्रसंगवश आचार्यश्री भिक्षु को विनम्र प्रणाम।

आचार्यश्री भिक्षु के काल में चली बहस का स्पष्ट प्रभाव हम महात्मा गांधी में पाते हैं। गांधी न संत थे, न भिक्षु। गृहस्थ रहते हुए वे महात्मा कहलाए। अहिंसा के पुजारी माने गए। उनकी नजर में अहिंसा धर्म मात्र ही हो, सो बात नहीं। हमारे दैनंदिन जीवन का अंग भी अहिंसा बन सकती है—गांधी ने यह सिद्ध कर दिखाया। कोई क्षेत्र हो—गांधी ने हर क्षेत्र में अहिंसा के प्रयोग किए और जो वे हासिल करना चाहते थे, सब-कुछ अहिंसक विधि से हासिल किया।

अहिंसा और हिंसा के प्रसंग पर गांधी की जागरूकता उल्लेखनीय है। आचार्यश्री भिक्षु और महात्मा गांधी समकालीन तो नहीं थे, पर लगता है कि अहिंसा के प्रति दोनों की धारणा एक समान और सटीक थी। दान-दया के विवादों पर जो मत आचार्यश्री भिक्षु का रहा, महात्मा गांधी भी उसी तरह का विचार रखते थे। जैसे, गांधी कहते हैं—'बंदर को मार भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूं। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े तो अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों काल में हिंसा ही गिनी जाएगी।'

हिंसा-अहिंसा के प्रसंग पर महात्मा गांधी का विवेक बड़ा प्रबल था। एक ओर सामाजिक-राजनीतिक दायित्वों के प्रति उनकी अटूट निष्ठा थी, तो दूसरी ओर अहिंसा के प्रति भी उनका स्पष्ट और निर्भ्रांत मत था। वे मानते थे—'यह बात सच है कि खेती में सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा है। कार्य मात्र, प्रवृत्ति मात्र, उद्योग मात्र सदोष हैं। खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा हैं। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है और मनुष्य ज्ञान, भक्ति आदि के द्वारा अंत में इन अनिवार्य दोषों से मोक्ष प्राप्त करके हिंसा से भी मुक्त हो जाता है।'

अहिंसा और दया के प्रसंग पर आचार्यश्री भिक्षु और महात्मा गांधी का यह मतैक्य हमारे विचारतंत्र को स्पष्ट निर्द्वंद्व राह दिखा रहा है। लेकिन करुणा और दया—इन दो शब्दों के गूढ़ार्थ पर हमें थोड़ा विचार करना ही चाहिए।

शब्दार्थ एक-सा ही है—करुणा और दया का, फिर भी अहिंसा तत्त्व को सम्मुख रख हमें इन दोनों शब्दों की थोड़ी विवेचना करनी चाहिए। क्या 'दया' में दाता का भाव प्रतीत नहीं हो रहा? और क्या 'करुणा' में हृदय

के अंतस्तल से संवेदना-निर्झर बहती-सी प्रतीत नहीं होती?

दया में दाता का भाव प्रकट-अप्रकट प्रतीत होता ही है। सामान्य जीवन में हम आए दिन देख सकते हैं कि 'दया-भाव' प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष 'दाता-भाव' ही है। इस दाता-भाव में अहंकार छलना की तरह छलकता है और तब हमें मानना होगा कि दया किसी-न-किसी रूप में हिंसा की सहायक ही है। अतः जब अहिंसा अथवा अहिंसक जीवन शैली की बात हो तो दया नहीं, करुणा तत्त्व सहायक हो सकता है। इस तरह बहुत विनम्रता के साथ यह स्वीकार करना चाहिए कि 'दया-धर्म' में भी कहीं वे तत्त्व काम कर रहे होते हैं जो प्रकारांतर से हिंसा में सहायक हो जाते हैं।

हम यह बात इस रूप में देखें : अनेक व्यावसायिक और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में लाभांश अथवा सकल लाभ का एक अंश 'धर्मादा' के रूप में रखा जाता है। किस रीति-नीति से वे प्रतिष्ठान लाभांश कमाते हैं—उसे कौन देखता है? पर, उसी में से निकले 'धर्मादा' का जन-हितार्थ उपयोग होता है। इस सबका निहितार्थ कोई समझ पाए अथवा न पाए, पर इसके फलितार्थ ऐसे प्रतिष्ठानों अथवा लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा के रूप में सामने आते हैं। और इस तरह हासिल सामाजिक प्रतिष्ठा न्यून सामाजिक हित की एवज में गहरी सामाजिक विषमता पैदा करने का आधार बनती है। यहां हमें संत कबीर के एक पद की यह पंक्ति याद आती है—

ऐरन की चोरी करे, करे सुई को दान रे।

अतः अहिंसक समाज-संरचना के लिए करुणाशील समाज जरूरी है, न कि दयावान। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस बिंदु पर स्पष्ट मत रखते हैं। वे कहते हैं—'आज करुणा की धारा सूख गई है। करुणा होती है तो अनेक बुराइयां स्वतः ही दूर हो जाती हैं।' वे कहते हैं—'...ऐसा कोई प्रयोग करें कि वह भारतीय धारा पुनः प्रवाहित हो जाए। बौद्धिकता ने भावात्मक स्रोत को सुखा दिया है। संवेदनशीलता को कोई अवकाश नहीं रहा। इसीलिए समाज हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया है।'

निश्चय ही हमारी संवेदनशीलता भोथरी होती जा रही है। जीवन के पग-पग पर हम पाते हैं कि घोर अमानवीय घटनाओं का भी हमारे मानस पर कोई असर नहीं रहता। घरों में चलने वाले दूरदर्शन कार्यक्रमों में बेचारी 'मूर्ख मंजूषा' वीभत्स दृश्य दिखा रही होती है और हमारे आधुनिक(?) जन चाय, शर्बत की चुस्कियां ले रहे होते हैं या आइस-क्रीम चाट रहे होते हैं। मरघट पर जल रही चिता का दृश्य देखना और साथ-साथ कलेवा भी करते चलना—अब घरों में सामान्य-सा कर्म हो गया है। यह सब संवेदनहीनता का ही प्रतिफल है और 'बुद्धू बक्से' के अनियंत्रित चलन ने सचमुच ही मनुष्य-समाज के भावात्मक स्रोत को सूखा डाला है, वह हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया है।

करुणाहीनता अथवा असंवेदनशीलता का ही प्रतिफल है कि हमारे सामाजिक उत्तरदायित्व संकुचित हुए हैं। हम अधिक आत्म-केंद्रित होते जा रहे हैं। हमारे सहज विवेक और स्वधर्म पर स्वार्थ की चादर तन गई है। हम इतने स्वार्थांध होते जा रहे हैं कि सह-जीवन का हमारा पारंपरिक स्वरूप यत्किंचित ही नजर आ पाता है।

विलोपन की इस स्थिति से मुक्त होने के लिए हमें कुछ उपायों पर विचार करना होगा। हमारी बौद्धिकता और भावात्मकता के बीच पड़ी गहरी खाई को पाटने के उपायों की ओर हमें लौटना होगा। और इसके लिए हमें कहीं बाहर नहीं, अपना घर-आंगन ही देखना होगा। जो जीवन हम जी रहे हैं, हमें देखना होगा कि क्या वह सुख और शांति तथा समरसता दाई है? वह नहीं है, क्योंकि भावात्मक स्रोत सूख गए हैं। वे क्यों सूख गए? क्योंकि भौतिक सुख-सुविधाओं की चपेट में वास्तविक सुखों को तिरोहित होने से हम रोक नहीं पाए।

एक संतुलन स्थापित करने की दिशा में हमें विचार करना होगा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी हमें राह दिखाते हैं। कहते हैं—'विकास का एक चतुष्कोण बनना चाहिए।' वे बताते हैं—'आर्थिक विकास, नैतिक विकास और आध्यात्मिक विकास साथ-साथ हों। आर्थिक विकास ऐसा नहीं होना चाहिए जो नैतिक मूल्यों को विघटित कर दे।'

स्पष्ट है कि करुणाशील समाज ही नैतिक मूल्यों का पोषक हो सकता है और इसी तरह अहिंसक समाज-संरचना को मजबूत आधार मिल सकता है। इसके लिए कई विकल्प हो सकते हैं और समय-समय पर उनकी चर्चा भी इस 'प्रसंग' में की जाती रही है। हां! अपना मंतव्य साफ और स्पष्ट हो—यह हमें जान लेना चाहिए।

—शुभू पटवा

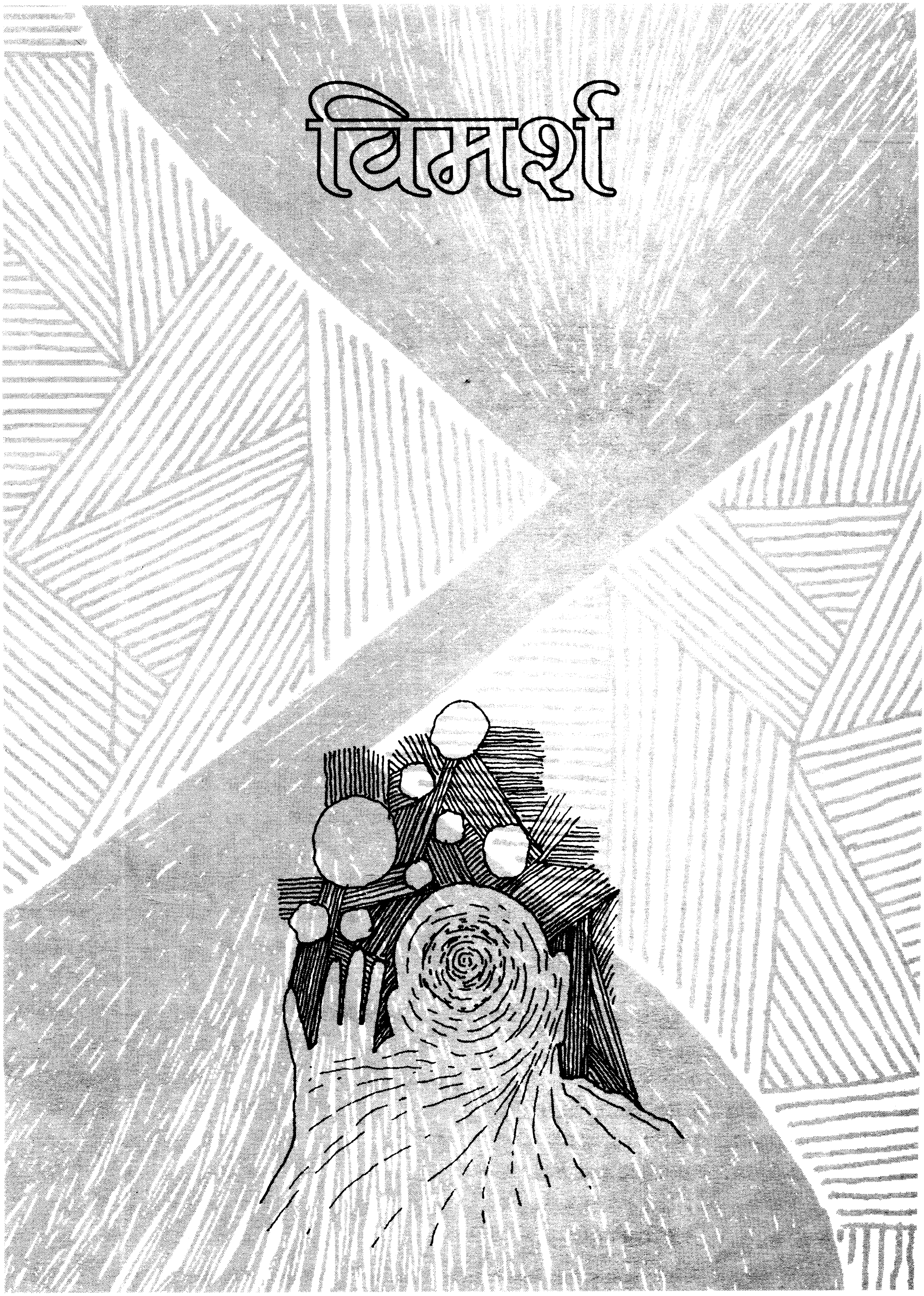
विमर्श

यह अनंतता विशुद्ध गति है, शून्यता विशुद्ध स्थिति है। एक गति-मात्र है, दूसरी स्थिति-मात्र है। आधुनिक बोली में पहला 'कंटिनुअम' है, दूसरा 'क्वैंटम्' है। तंत्रशास्त्र में इन्हीं के लिए पारिभाषिक शब्द हैं 'नाद' और 'बिंदु'। नाद अनंत गति है और बिंदु शून्यरूपा स्थिति। सत्य दोनों से परे है। जगत् में जो कुछ रूप दिखता है, वह गति और स्थिति का विलास है। नाद बिंदु का उन्मिषित रूप है। इसलिए सारी सृष्टि नाद-बिंदु का विलास है। नाद को ब्रह्म की इच्छाशक्ति कहते हैं, बिंदु को क्रिया-शक्ति। नाद पद रूप में प्रकट होता है, बिंदु पदार्थ के रूप में। नाद शब्द है, बिंदु रूप है। जो वास्तविकता है—उसे ब्रह्म कहा जाता है। क्या यह मजेदार बात नहीं है कि जो शब्द और अर्थ के अतीत हैं उन्हें भी एक (ब्रह्म) नाम देना पड़ा, वह भी वाक् या वाणी का विषय बना! परंतु नाम भले ही दे लीजिए, ब्रह्म उसका अर्थ हो नहीं सकता। वह तो वस्तुतः अनुभव की वस्तु है! गूंगे का गुड़ है। स्पष्ट है कि पद और पदार्थ नाद-बिंदु के पचड़े हैं, नाम-रूपात्मक सृष्टि के निदर्शक हैं। जहां से नानात्व शुरू होता है—वहां से पद और पदार्थ शुरू होते हैं। जो लोग सोचते हैं कि पद पहले है, पदार्थ बाद में—उनको स्पष्ट मालूम है कि 'पहले' और 'बाद में'—ये शब्द प्रतीति-मात्र हैं। अपने-आप में ये एक प्रकार की प्रतीति की धारणा लिए हुए हैं।

—**हजारीप्रसाद द्विवेदी**

धर्म के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्म के पास 'रेचन' का कोई उपाय है? धर्म दमन सिखाता है। वह कहता है—गुस्से को दबाओ, कामवासना का दमन करो, भय और अहं को दबाओ। धर्म केवल दबाने की ही बात करता है—धर्म के प्रति यह धारणा सही नहीं है। धर्म ने कभी दमन नहीं सिखाया। उसके पास निर्जरा का सिद्धांत है। निर्जरा का अर्थ है—'रेचन'। जो भीतर संचित है उसको बाहर निकालना है—यह है निर्जरा। इतना निकालना, इतना 'रेचन' करना कि भीतर में जो संचित है, वही केवल समाप्त न हो जाए, संचित करने का तंत्र भी समाप्त हो जाए।

❑ ❑

समाधि से समाधान

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

मानसिक समस्याओं को सुलझाने के लिए मनुष्य ने अनेक प्रयत्न किए हैं, आज भी वह प्रयत्नशील है। आज का युग मानसिक समस्यों से आक्रांत है। अतीत इन समस्याओं से शून्य रहा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतीत में भी समस्याएं थीं और आज भी हैं। मनुष्य है, मन है, तो मन की उलझनें भी हैं। मनुष्य ने जब-जब मानसिक उलझनों का भार अनुभव किया, तब-तब उनको सुलझाने का प्रयत्न भी किया है।

मानसिक समस्याओं के समाधान के लिए मनोवैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं। वे कहते हैं—जब क्रोध आए या तनाव बढ़े तो किसी-न-किसी रूप में शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए। ध्यान बंट जाने के कारण क्रोध का आवेग कम हो जाएगा। दूसरा प्रयोग यह है कि जब क्रोध आदि का आवेग आए, तब स्वाध्याय या किसी मनोरंजन में लग जाना चाहिए। ये दोनों उपाय तात्कालिक हैं, सामयिक हैं। पर समस्या को स्थाई रूप में समाहित नहीं कर सकते।

मनोवैज्ञानिकों की शोध के अनुसार यह तथ्य प्रतिपादित हुआ है कि यदि व्यक्ति नौ मिनट तक क्रोध के आवेश में रहता है तो नौ घंटों तक काम करने में प्रयुक्त होने वाली उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। कहां नौ मिनट और कहां नौ घंटे! कितनी हानि? यह धार्मिक उपदेश नहीं है, यह प्रयोगशाला में परीक्षित सत्य है।

क्रोध के दुष्परिणामों की धर्मशास्त्रों में लंबी तालिका है। वे तालिकाएं नरक के संदर्भ में हैं। क्रोध करने वाला नरकगामी होता है। क्षमा करने वाला स्वर्ग को प्राप्त होता है। आज का आदमी इस भाषा को नहीं समझ सकता कि क्रोध करने से नरक मिलता है और क्षमा करने से स्वर्ग मिलता है। एक बार यह मान भी लिया जाए कि क्रोध करने से नरक मिलता है, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उसके मन में न नरक का भय है और न स्वर्ग का प्रलोभन है। आदमी इस तरह के भय और प्रलोभन से ऊपर उठ चुका है।

किंतु शरीरशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय खोजों ने आज जिन सचाइयों का उद्घाटन किया है, वे सोचने के लिए सचमुच बाध्य करती हैं। किंतु वे भी सही और स्थाई समाधान नहीं हैं। यह माना गया है कि भावनात्मक आवेगों (इमोशंस) का जो आघात होता है, उसे न रोकना चाहिए और न दबाना चाहिए। उनका निरोध और दमन—दोनों ही हितकर नहीं होते। उन आवेगों का तात्कालिक उपाय किया जा सकता है। उनको स्थाई मान लेना उचित नहीं होता।

आवेग-उपशमन : व्यावहारिक उपाय

आवेगों के उपशमन के लिए अनेक उपाय सुझाए गए हैं—गुस्सा आए तो मुंह में मिश्री की डली लेकर चूसने लग जाओ, ध्यान बंट जाएगा। ध्यान बंटते ही गुस्सा मंद हो जाएगा। गुस्सा आए तो मुंह में पानी भर लो। पानी को निगलो मत। गुस्सा बदल जाएगा, आदि-आदि।

एक युवती बहुत कलह करती थी। लड़ना-झगड़ना उसके दैनंदिन का कार्य बन गया था। उसके कटु परिणामों

से भी वह पीड़ित थी। एक दिन वह अपने पड़ोसी के पास जाकर बोली—पिताजी! आदत बदलती नहीं है। कलह से तंग आ गई हूं। क्रोध न आए—कुछ उपाय सुझाएं। उसने कहा—बेटी! मेरे पास इसकी अचूक दवा है। वह मैं तुम्हें देता हूं। बहुत कीमती है। जब गुस्सा आए तब एक घूंट दवा ले लेना, किंतु उसको पंद्रह-बीस मिनट तक निगलना मत, मुंह में ही रखना। कुछ ही दिनों में तुम्हारी आदत बदल जाएगी।

दूसरे दिन वह युवती काम कर रही थी कि उत्तेजना का कोई अवसर आया। उसने तत्काल उस मूल्यवान् ओषधि की एक घूंट मुंह में ली। क्रोध का आवेग भी तात्कालिक होता है। वह पंद्रह-बीस मिनट कैसे रहे? उसका क्रोध शांत हो गया। दूसरा प्रसंग आया, तीसरा और चौथा प्रसंग आया—उसने वैसा ही किया। तीन दिन तक यही प्रयोग होता रहा, कलह शांत हो गया। घर वाले अचंभे में पड़ गए—इतना परिवर्तन कैसे हुआ?

पड़ोसी से पूछा—ऐसी क्या दवा है, जो भयंकर क्रोध को भी शांत कर दे? पड़ोसी ने कहा—केवल पानी दिया था। जब पानी मुंह में होता है, तब क्रोधी व्यक्ति बोल नहीं सकता। बोले बिना क्रोध का उभार नहीं होता। वह धीरे-धीरे शांत हो जाता है। यही इसका रहस्य है। यह एक उपाय अवश्य है, पर इससे क्रोध आना रुकेगा नहीं, किंतु क्रोध बाहर अभिव्यक्त नहीं होगा। इससे क्रोध का कटु परिणाम सामने नहीं आएगा। क्रोध आता है, उसका आभास होता है। प्रकृति ने आभास को मिटाने के लिए व्यवस्था भी की है। प्रकृति के पास व्यवस्था है कि कोई भी आवेग आए—चाहे वह ईर्ष्या हो या क्रोध, मान हो या माया, घृणा हो या प्रेम—उसको शांत किया जा सकता है।

किसी सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने लिखा है—उत्तेजना, संवेग आदि आएं तो उनको दबाना नहीं चाहिए, उन्हें बाहर निकाल देना चाहिए। आवेगों को निकालने का सबसे अच्छा उपाय है—रोना। रोने पर बड़ी-बड़ी खोजें हुई हैं। महिलाओं को 'हार्ट-ट्रबल' का रोग कम होता है और पुरुषों में यह अधिक होता है। ऐसा क्यों है? कारण स्पष्ट है कि महिलाएं रोकर अपने दबावों को बाहर निकाल देती हैं और पुरुष रोने में संकोच करते हैं, इसलिए उनके दबाव भीतर एकत्रित होते जाते हैं और वे ही भारी बनकर कभी इतने जोर से धक्का मारते हैं कि हृदय उस आघात को सहन नहीं कर पाता। महिलाओं के आयुष्य में और पुरुषों के आयुष्य में भी बहुत बड़ा आनुपातिक अंतर होता है।

एक घटित घटना है। एक बालक था। उसका नाम था जीवककुमार। वह बहुत तत्त्वज्ञानी और प्रबुद्ध था। उसके साथ एक विचित्र आदत जुड़ी हुई थी। जब भी वह भोजन करने बैठता—जरूर रोता। पांच-सात मिनट रोना उसका निश्चित क्रम था। भोजन की थाली परोसी हुई है। वह भोजन करने की तैयारी में है, पर वह रो रहा है, सिसक रहा है। एक दिन बालक के भोजन के समय कोई मुनि आ गए। उन्होंने देखा—रोना अजीब-सा लगा। उन्होंने रोने का कारण पूछा। बालक प्रबुद्ध था। उसने कहा—रोने के तीन लाभ हैं—(1) चाक्षुष यंत्र के आस-पास जो मैल या कफ जमा होते हैं, वे रोने से साफ हो जाते हैं। (2) आंखें साफ हो जाती हैं, और देखने की शक्ति बढ़ जाती है। (3) भोजन भी ठंडा और सुपाच्य हो जाता है।

तनाव को कम करने का एक उपाय है—'रेचन'। रोना प्रकृति का रेचन है, प्रकृति की व्यवस्था है। रेचन होता है और दबाव कम हो जाते हैं। दबाव भीतरी स्नायुओं में संचित नहीं होते, बाहर निकल जाते हैं। कठिनाई तब होती है जब तनाव स्नायु-संस्थान में संचित हो जाते हैं। इतना संचय बढ़ जाता है कि वह स्नायु-संस्थान को ही तोड़ने लग जाता है। तब उच्च रक्तचाप, मस्तिष्क पर दबाव, 'हार्ट-ट्रबल' आदि बीमारियां पैदा होती हैं।

निर्जरा : रेचन की प्रक्रिया

धर्म के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्म के पास 'रेचन' का कोई उपाय है? धर्म दमन सिखाता है। वह कहता है—गुस्से को दबाओ, कामवासना का दमन करो, भय और अहं को दबाओ। धर्म केवल दबाने की ही बात करता है—धर्म के प्रति यह धारणा सही नहीं है। धर्म ने कभी दमन नहीं सिखाया। उसके पास निर्जरा का सिद्धांत है। निर्जरा का अर्थ है—'रेचन'। जो भीतर संचित है उसको बाहर निकालना है—यह है निर्जरा। इतना निकालना, इतना 'रेचन' करना कि भीतर में जो संचित है, वही केवल समाप्त न हो जाए, संचित करने का तंत्र भी समाप्त हो जाए।

जब किसी पंछी की पांखें रजकणों से भर जाती हैं, तब वह अपनी पांखों को प्रकंपित कर सारे रजकणों को झाड़ देता है। इसी प्रकार इतना प्रकंपन करो कि सारा दबाव समाप्त हो जाए, बाहर निकल जाए, रेचन हो जाए। यह निर्जरा की प्रक्रिया केवल क्रोध या भय के तनाव को समाप्त करने की प्रक्रिया ही नहीं है, क्रोध और भय के मूल तंत्र को मिटाने की प्रक्रिया भी है।

प्रवृत्तियां और संवेग

मनोविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् मेक्डोनल ने चौदह प्रवृत्तियां और चौदह प्रकार के संवेग बतलाए हैं। इनकी तुलना मोह कर्म की प्रकृतियों से की जा सकती है।

जैन परंपरा में कर्मशास्त्र पर बहुत अध्ययन हुआ है। जब मैं वर्तमान मनोविज्ञान और जैन दर्शन को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ता हूं, तो लगता है, दोनों में बहुत साम्य है। यह तथ्य है कि यदि आज का मनोवैज्ञानिक कर्मशास्त्र का अध्ययन नहीं करता है तो वह मानसिक समस्याओं का पूरा समाधान नहीं दे सकता। ठीक इसी तरह आज का जैन विद्वान् यदि मानसशास्त्र का गहरा अध्ययन नहीं करता है तो वह कर्मशास्त्र को पूरा समझ नहीं सकता।

मैं जब-जब मनोविज्ञान को पढ़ता हूं तो मुझे लगता है कि आज का मनोवैज्ञानिक कर्मशास्त्र की भाषा में बोल रहा है, सोच रहा है। मनोविज्ञान ने चौदह मूल प्रवृत्तियां और चौदह प्रकार के संवेग प्रतिपादित किए हैं। एक ओर इनको रखें और दूसरी ओर मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को रखें तो आश्चर्य होगा कि दोनों में भावना की ही तुलना नहीं है, शब्दों की भी तुलना है। वह सूची इस प्रकार है—

मूल प्रवृत्तियां	*मूल संवेग*
1. पलायनवृत्ति	भय
2. संघर्षवृत्ति	क्रोध
3. जिज्ञासावृत्ति	कुतूहलभाव
4. आहारान्वेषणवृत्ति	भूख
5. पित्रीयवृत्ति	वात्सल्य, सुकुमार-भावना
6. यूथवृत्ति	एकाकीपन तथा सामूहिकता भाव
7. विकर्षवृत्ति	जुगुप्साभाव
8. कामवृत्ति	कामुकता
9. स्वाग्रहवृत्ति	स्वाग्रहभाव, उत्कर्षभाव
10. आत्मलघुतावृत्ति	हीनभाव
11. उपार्जनवृत्ति	स्वामित्वभाव, अधिकारभाव
12. रचनावृत्ति	सृजनभाव
13. याचनावृत्ति	दुखभाव
14. हास्यवृत्ति	उल्लसितभाव

मोहनीय कर्म के विपाक	*मूल संवेग*
1. भय	भय
2. क्रोध	क्रोध
3. जुगुप्सा	जुगुप्साभाव
4. स्त्रीवेद	कामुकता
5. पुरुषवेद	कामुकता
6. नपुंसकवेद	कामुकता
7. अभिमान	स्वाग्रहभाव, उत्कर्षभाव
8. लोभ	स्वामित्वभाव, अधिकारभाव
9. रति	उल्लसित भाव
10. अरति	दुखभाव

तात्कालिक उपचार : स्थाई उपचार

मनोविज्ञान के माध्यम से अब तक जितने उपचार सुझाए गए हैं, वे सभी तात्कालिक उपचार हैं—स्थाई एक भी नहीं है। ठीक इसके विपरीत कर्मशास्त्र स्थाई समाधान देता है। आवेगों का तात्कालिक उपचार करना कोई बुरी बात नहीं है, किंतु वहां अटक कर रह जाना उचित नहीं है। वहां से आगे प्रस्थान कर संवेगों को पूर्ण रूप से समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। तात्कालिक उपचारों से संवेग दबते हैं, निर्मूल नहीं होते। जब तक वृत्तियां, संज्ञाएं और संस्कार समाप्त नहीं हो जाते, तब तक आवेग उत्पन्न होते ही रहेंगे। इस दुनिया में उद्दीपनों की कमी नहीं है। जैसे-जैसे उद्दीपन सामने आते हैं, संवेग जाग जाते हैं। उनका उपचार करते हैं, वे शांत हो जाते हैं। वे फिर जाग भी जाते हैं। फिर उपचार करते हैं तो शांत हो जाते हैं और फिर जाग जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। इस अनंत क्रम का कहीं अंत नहीं।

इतना मान लेना ही पर्याप्त नहीं है कि हमारे भीतर सभी आवेगों के संवेदन-केंद्र हैं। जब बाह्य उद्दीपनों से वे उत्तेजित होते हैं, तब आवेग अभिव्यक्त होते हैं। हमें इससे आगे जाना चाहिए। आगे भी कुछ है। इसी बिंदु पर मनोविज्ञान और कर्मशास्त्र में अंतर आता है। यह सही है कि हमारे मस्तिष्क में आवेगों के संवेदन-केंद्र हैं। उनको उद्दीप्त करने वाले कारण भी हैं, किंतु इतना ही नहीं है। ये दोनों स्थूल तथ्य हैं। मूल बात है—संज्ञा, वृत्ति और संस्कार। महर्षि पतंजलि ने जिसे वृत्ति कहा, जैन आगमों ने जिसे संज्ञा कहा और नैयायिक आदि ने जिसे संस्कार कहा—वे सारे वृत्तिकेंद्र, संज्ञाकेंद्र, संस्कारकेंद्र हमारे भीतर हैं। किंतु वे स्थूल शरीर में नहीं हैं, सूक्ष्म शरीर में हैं, सूक्ष्मतम शरीर में हैं। जब तक ये केंद्र क्षीण नहीं होते, उपशांत नहीं होते—तब तक ये वृत्तियां जागती रहती हैं, कभी समाप्त नहीं होतीं। आदमी संवेगों का भार ढोता रहता

है, दुख पाता रहता है। हमें मूल को पकड़ना है, उस पर प्रहार करना है।

मूल है प्रियता की अनुभूति। यह संवेगों का कारण है। जब तक प्रियता या रागात्मक अनुभूति समाप्त नहीं होगी, तब तक न शोक को मिटाया जा सकता है और न भय और क्रोध को। मूल सुरक्षित है तो पत्ते और फल-फूल आते ही रहेंगे। उनको रोका नहीं जा सकता।

प्रियता और अप्रियता दो नहीं हैं। प्रियता है, इसीलिए अप्रियता होती है। प्रिय वस्तु में कोई बाधक बनता है तो अप्रियता की वृत्ति जाग जाती है। अप्रियता का मूल है प्रियता। अप्रियता का अपने-आप में कोई अस्तित्व ही नहीं है। निषेध का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। जितने 'नेगेटिव' हैं वे 'पोजिटिव' के कंधे पर चलते हैं। अस्तित्व के आधार पर नास्तित्व और विधि के आधार पर निषेध चलता है। वे पंगु हैं। अपने पैरों से कभी नहीं चलते। यदि अहिंसा न हो तो हिंसा कभी नहीं चल सकती। लोग कहते हैं—हिंसा बहुत शक्तिशाली है, झूठ बहुत शक्तिशाली है—किंतु गहरे में उतरकर देखें तो ज्ञात होगा कि यदि अहिंसा न हो तो हिंसा अपनी मौत मर जाए और यदि सत्य न हो तो झूठ का अस्तित्व ही न रहे। झूठ सचाई के सहारे पलता है या सचाई झूठ के सहारे पलती है। हिंसा अहिंसा के सहारे पलती है या अहिंसा हिंसा के सहारे पलती है। आदमी जीवन में हिंसा कम करता है, झूठ कम बोलता है। उसका सारा व्यवहार अहिंसा और सत्य के आधार पर चलता है। सारे आवेग आंतरिक अच्छाइयों के आधार पर पलते है।

मूल की खोज

अतः मूल है प्रियता। हम उसका स्पर्श करें। धर्म और अध्यात्म का सारा उपदेश प्रियता की अनुभूति को कम करने की प्रेरणा देता है। क्रोध क्यों आता है? प्रियता है, इसीलिए क्रोध आता है। यह रहस्य जान लेना चाहिए। अपनी पत्नी या पुत्र पर जितना क्रोध आएगा—पड़ोसी पर नहीं आएगा। क्योंकि पड़ोसी की अपेक्षा पत्नी और पुत्र पर प्रियता का भाव अधिक है। भय का आवेग क्यों जागता है? प्रियता है—इसीलिए भय होता है। प्रिय वस्तु, जो प्राप्त है, वह चली न जाए—इस भय से व्यक्ति भयभीत रहता है। यदि किसी चेतन-अचेतन के प्रति प्रियता न हो तो न क्रोध जागेगा और न भय सताएगा। जिनके पास धन है, उन्हें बहुत भय रहता है—क्योंकि धन के साथ उनकी प्रियता जुड़ी हुई है। शरीर चला न जाए—यह भय होता है, क्योंकि शरीर के प्रति हमारी प्रियता है। आदमी सोता है। सोचता है—आंगन जमीन के बराबर है। रात को सांप न काट खाए। भय क्यों हुआ? न वहां सांप है और न कुछ और। भय इसलिए आया कि शरीर बहुत प्रिय है। प्रियता ही सारे आवेगों की जननी है। शोक और हर्ष प्रियता के कारण होता है। प्रियता है—बीज। जब वह बीज फलता है, तब संवेग का पूरा वृक्ष लहलहा उठता है।

प्रियता के कारण अप्रियता बनती है। अप्रियता के कारण भी क्रोध जागता है। अप्रियता भय का हेतु भी बनता है। आदमी संत्रस्त रहता है कि अप्रिय का संयोग न हो जाए, अप्रिय घटना घटित न हो जाए।

एक चोर आया। संन्यासी का कंबल चुराकर भाग गया। वह पकड़ा गया। जज ने पूछा—तुमने संन्यासी का क्या चुराया था? चोर ने कहा—केवल एक कंबल ही मिला। संन्यासी ने कहा—यह झूठा है। इसने मेरा सब-कुछ चुरा लिया है। इसने मेरा बिछौना, मेरा सिरहाना, मेरा ओढ़ने का वस्त्र—सब-कुछ चुरा लिया है। जज ने फिर चोर से पूछा—सच-सच बताओ। झूठ मत बोलो। चोर ने कहा—केवल कंबल ही चुराया था। संन्यासी ने पहेली को सुलझाते हुए कहा—चोर ठीक कहता है। मेरा यह एक कंबल ही सब-कुछ है। सोता हूं तो बिछा लेता हूं। कभी सिरहाने दे देता हूं। ठंड लगती है तो ओढ़ लेता हूं। कभी दूसरी जरूरत नहीं होती है तो पैरों के नीचे रख देता हूं। यह कंबल ही मेरा सब-कुछ है।

प्रियता ही सब-कुछ है। किंतु, आदमी कभी भय का उपचार करता है, कभी क्रोध और ईर्ष्या को मिटाने का प्रयत्न करता है। कभी वह लोभ को और कभी घृणा को मिटाता है और जब कामुकता का शिकार होता है तो कामुकता का उपचार करता है। जब तक मूल को नहीं पकड़ लेता, तब तक सारा प्रयत्न व्यर्थ है, तात्कालिक है। मूल पर प्रहार किए बिना समाधि नहीं होगी, असमाधि के कोण उभरते रहेंगे। क्रोध को मिटाने का प्रयत्न किया तो भय जाग गया और भय को मिटाने का प्रयत्न किया तो घृणा जाग गई। क्रम चलता ही रहेगा।

राजस्थान में एक सुंदर कहानी प्रचलित है। चोर जा रहा था। रास्ते में खेत आ गया। चोरी की भावना जाग उठी। उसने खेत में से तुंबे चुरा लिए। मालिक ने देख लिया। उसने पीछा किया। चोर दौड़ा। पानी की तलैया आ गई। उसने तुंबों को पानी में डालकर छिपाना चाहा। तुंबे

पानी में तैरने लगे। उसने उन्हें दबाया। पर वे नीचे जाते हैं, फिर ऊपर आ जाते हैं। इतने में खेत का स्वामी वहां आ गया। उसने कहा—तुमने तुंबे चुराए? 'हां, मैंने तुंबे चुराए थे, पर ये इतने नालायक हैं कि तीन को पानी में दबाता हूं तो पांच ऊपर आ जाते हैं और पांच को दबाता हूं तो दस ऊपर आ जाते हैं।'

यही स्थिति संवेगों की है। आदमी भय के संवेग को दबाता है तो वासना का संवेग उभर आता है। वासना को दबाता है तो घृणा जाग जाती है। एक वृत्ति को दबाता है तो पांच दूसरी वृत्तियां जाग जाती हैं। जब तक मूल पर गहरा आघात नहीं होगा—वृत्तियों का जागना समाप्त नहीं होगा।

स्थाई समाधान

समाधि स्थाई समाधान है। इस तक पहुंचने के लिए प्रियता को पकड़ना होगा। असमाधि, मानसिक अशांति और तनाव को मिटाने का एकमात्र उपाय है—प्रियता की अनुभूति को समाप्त करना या कम करना। प्रियता को समाप्त करने पर ये सारी बीमारियां समाप्त हो जाती हैं। ये बीमारियां मूल नहीं हैं, मूल के पार्श्व में रहने वाली हैं, मूल से पलने-पुषने वाली हैं।

मनुष्य दृश्य बीमारी की चिकित्सा कराता है। घुटने में दर्द होता है तो घुटने की चिकित्सा कराता है और सिर में दर्द होता है तो सिरदर्द की चिकित्सा कराता है। यह एककोणीय चिकित्सा है। इससे उसके उस दर्द का संवेदन तो कम हो जाता है, परंतु बीमारी के स्रोत की चिकित्सा नहीं होती। बीमारी के स्रोत की चिकित्सा का तात्पर्य है—पूरे शरीर की चिकित्सा करना। यह स्थाई चिकित्सा है। दृश्य अवयव की चिकित्सा रोग की तात्कालिक चिकित्सा है।

इसी प्रकार सारी समस्याओं का स्थाई समाधान है—प्रियता को समाप्त करना। एक दिन में यह कम नहीं हो सकती। धीरे-धीरे इसे कम करना होता है। प्रियता के संवेदनों को कम करते रहने से शेष सारे संवेदन स्वतः कम होने लगेंगे।

प्रश्न है—प्रियता के संवेदन को कम कैसे करें? इसका उत्तर है—हम 'रेचन' करना सीखें। दीर्घश्वास का प्रयोग इसकी प्रक्रिया है। दीर्घश्वास की प्रक्रिया में श्वास लंबा लेना होता है और लंबा ही छोड़ना होता है। यह मानसिक अशांति को मिटाने का महत्त्वपूर्ण उपाय है। जब श्वास का रेचन होता है, तब भीतर की विकृतियां बाहर निकलती हैं। लंबा श्वास लेने से ऑक्सीजन अधिक प्राप्त होगा और लंबा श्वास छोड़ने से कार्बनडाइ आक्साइड का अधिक रेचन होगा, पर यह मात्र शारीरिक है।

यदि कोरा दीर्घश्वास ही हो तो यह शारीरिक उपचार-मात्र होगा। किंतु साधक दीर्घश्वास के साथ-साथ चित्त को निर्मल बनाने की भावना भी रखता है। उसका उद्देश्य होता है—चित्त को निर्मल बनाना, चित्त के विकारों को मिटाना। यह भावना अपना काम करती है और मूल-प्रियता पर प्रहार करती है। दीर्घश्वास की प्रक्रिया में प्रियता की अनुभूति का भी साथ ही साथ 'रेचन' होता है।

आप प्रयोग करें। गुस्सा आने लगे तब दो-चार दीर्घश्वास लें। क्रोध का आवेग शांत होने लगेगा। मन में अकस्मात् भय या वासना जाग जाए, तत्काल पांच-दस दीर्घश्वास लें। भय और वासना का आवेग कम हो जाएगा। आपको अनुभव होने लगेगा कि मन का भार कम हो रहा है, दबाव कम हो रहा है, समाधि प्राप्त हो रही है।

समाधि मानसिक समस्याओं का स्थाई समाधान है, किंतु उसकी सिद्धि समय-सापेक्ष है। ❖

यदि शिक्षा और तो सब-कुछ करे, पर व्यक्ति को उसकी विशिष्ट शक्ति, व्यक्ति को उसकी विशिष्ट रुचि, व्यक्ति को उसकी विशिष्ट निष्ठा, व्यक्ति को उसकी विशिष्ट प्रीति, व्यक्ति को उसकी विशिष्ट भक्ति का परिचय तथा दर्शन नहीं करा सके, तो सारी शिक्षा अंत में जाकर अपने किए-कराए पर स्वयं ही पानी फेर देती है, और शिक्षित किए हुए व्यक्ति की दशा अशिक्षित व्यक्ति की दशा से भी बदतर कर देती है।

—दयालचंद्र सोनी

श्रद्धा और विश्वास का अन्योन्याश्रित संबंध है। सृष्टि का उपक्रम ही श्रद्धा और विश्वास के संयोग से हुआ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार श्रद्धा महत् की आनंदपूर्ण के साथ-साथ पुण्य बुद्धि संचार है। यही विश्वास-कामना श्रद्धा की मूलप्रेरणा है (श्रद्धा-भक्ति)। प्रेम श्रद्धा से समन्वित होकर भक्ति भावना में परिणत हो जाता है। जब पुण्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा भावना के सामीप्य की प्रवृत्ति हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। भक्ति की रसात्मक अनुभूति में प्रेम आनंद रूप में परिणत होता है।

❑ ❑

श्रद्धा तत्त्व : एक विवेचन

❑ प्रो. कल्याणमल लोढा ❑

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने श्रद्धा का विविध रूपों में वर्णन किया है। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकों को देखें—

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः। (3.31)

इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने श्रद्धायुक्त तथा ईर्ष्यारहित होकर अनुष्ठान करने की बात कही है। वे पुनः कहते हैं—'अश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति'—अर्थात् श्रद्धा विहीन व्यक्ति विनष्ट हो जाता है। श्रद्धा और आस्तिक बुद्धि धर्म का आधार हैं। छठे अध्याय में अर्जुन का प्रश्न है 'श्रद्धायुक्त होकर भी योग में चंचल चित्त के कारण किस गति को प्राप्त होते हैं?' इसी अध्याय में—'श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' (6.47)—अर्थात् संपूर्ण योगियों में भी श्रद्धावान योगी ही अंतरात्मा से मुझे निरंतर भजते हैं। सप्तम अध्याय के 21-22 श्लोकों में श्रद्धायुक्त होकर भजने को कहते हैं। नवम अध्याय में—'अश्रद्दधाना पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप'—कहा गया है, अर्थात् श्रद्धा रहित पुरुष केवल संसार में भ्रमण करता रहता है। 23वें श्लोक में पुनः श्रीकृष्ण 'श्रद्धयान्विताः' कहते हैं। इसी प्रकार द्वादश अध्याय में—'श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः' (12.2) कहा है—अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मेरे सगुण रूप को भजते हैं। 17वें अध्याय में श्रद्धा का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है (दृष्टव्य (1.2.3) 13.17.29वां श्लोक)।

दो किस्तों के एक विशद आलेख की आखिरी कड़ी

इस अध्याय में श्रद्धा की तीन कोटियां बताई गई हैं—सात्त्विक, राजसी एवं तामसी और कहा है—'श्रद्धमयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—श्रद्धा के अनुसार ही व्यक्ति की प्रकृति होती है। आगे वे श्रद्धाविहीन यज्ञ को तामसिक कहते हैं। 17वें श्लोक में सात्त्विक तपस्या का श्रद्धायुक्त होना कहा है और 25वें में अश्रद्धा से किए गए तप, यज्ञ, दान आदि को निष्फल कहा गया है। 18वें अध्याय के 71वें श्लोक में—'श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः'—कहा गया है, अर्थात् श्रद्धा से युक्त होकर और दोषरहित रहकर ही श्रीगीता के श्रवण का लाभ मिलता है। श्रीगीता में प्रयुक्त श्रद्धा की आचार्यों ने विविधरूपेण व्याख्या की है। श्रद्धाविहीन अर्जुन को ही श्रीकृष्ण ने गीतोपदेश दिया था, जिससे वह पुनः श्रद्धावान बन सके। श्रीगीता में फल की आकांक्षा—स्वर्ग की प्राप्ति की इच्छा—के लिए की गई श्रद्धा निष्प्रयोजन है। संक्षेप में श्रीगीता में श्रद्धा का निदर्शन इस प्रकार हुआ है—

1. श्रद्धा का वही महत्त्व है जो भक्ति का है।
2. सात्त्विक की श्रद्धा ही श्रेष्ठ है।
3. श्रद्धा से ही मनुष्य अपने स्वभाव का निर्माण करता है।
4. श्रद्धा आस्तिक बुद्धि है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त हम अब श्रद्धा के विशिष्ट स्वरूप को देखें। काम का एक पर्याय संकल्प है। मनुस्मृति में इसका स्पष्ट उल्लेख है। भागवत् के अनुसार—

'संकल्पायास्तु संकल्पः कामः', अन्यत्र भी—'परमात्मनो स्वभावो च काम संकल्पनामयः'।

संकल्पमूलः कामोवैयज्ञाः संकल्पसंभवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः।।

दशकुमारचरित के अनुसार भी काम संकल्प 'कामोनाम संकल्पः'। इस प्रकार काम की पुत्री (कामायनी) अर्थात् श्रद्धा संकल्पजा भी है। वृहदारण्यक श्रुति में 'काम एवं यस्या यतने हृदयं लोको मनोज्योतिर्य,' 'काममय पुरुषः' कहा गया है। काम, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, बुद्धि, भय—सब मन के ही स्वरूप हैं। 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा' आदि (1.5.3)। छान्दोग्य भी यही कहता है—संकल्प से ही इच्छापूर्ति होती है। इच्छा जीवन का मूल है—जिजीविषा। मनः संकल्प ही जीवन का प्रमुख अंग है। श्रद्धा का उद्गम मन में होता है। आत्मा चैतन्य है। श्रद्धा संकल्पजा है। अनुभूति योगात्मक होती है—वह सनातन, अद्वयात्मक और देश-कालातीत से परे हैं। श्रद्धा चैतन्य की ही सांकल्पिक अनुभूति है—उसकी प्राप्ति। वह आत्मा में चैतन्य का प्रतीक है। वही ऋत है, समष्टि-सत्य है, व्यक्ति-सत्य नहीं। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं 'मनोगर्भिता बुद्धि से मानव ही केंद्र बिंदु है, इसके बिना श्रद्धा व्यर्थ है। आत्मकेंद्र मनु तेजस्वी होकर अपने अध्ययन के संवर्धन के लिए श्रद्धा प्राप्त करता है, इसी से पूर्ण बनता है। श्रद्धा अपोमय है। शतपथ ब्राह्मण कहता है—श्रद्धा का उद्गम मन में एवं विश्वास का बुद्धि में होता है, श्रद्धा-समन्वित बुद्धि ही आत्म-तंत्र तक पहुंच सकती है।' (मुमुक्षु, जनवरी, 1968)। श्रद्धा श्रेय-प्रेयमयी सत्ता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है—

श्रद्धाविधिसमायुक्तः कर्म्म यत् क्रियतेभूवि।
सुविशुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते॥

दुष्कृति मूढ़ व्यक्ति श्रद्धाविहीन होकर कर्म करता है तो असुर उसका फल चुरा लेता है। श्रद्धापूर्वक किए गए कर्म का ही अनंत फल है—

विधिहीनं भवेद्दुष्टं कृतम श्रद्धया च यत्।
तद्हरन्त्यसुरास्तस्य मूढस्य दुष्कृतात्मनः।।
(प्रायश्चित्त तत्त्वम्)

एक अन्य कथन है :

अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।
सत्कृतिर्यानसूया च सदा श्रद्धेति कीर्तिता॥ (देवल)

आगम ग्रंथों के अनुसार श्रद्धा मूल वृत्ति है। समस्त प्रवृत्तियों का केंद्र है। वही समस्त व्यवहारों की भी प्रतिष्ठाता है।

'त्रिपुरा रहस्य के ज्ञान खंड' में कहा गया है :

श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्।
अश्रद्धो मातृविषये बालोहि जीवते कथम्॥ (7.25)

श्रद्धा प्रेममयी माता है, वह सब कुकर्मों व कुतर्कों से सुरक्षित रखती है। श्रद्धा न रखने से लक्ष्मी, कीर्ति, सुख छोड़ देते हैं—

आप्तेष्वश्रद्धितं मूढ़ जहाति श्रीः सुखं यतः॥
स भवेत् सर्वथाहीनो यः श्रद्धारहितो नरः॥ (6.24)

श्रद्धाविहीन व्यक्ति हीन और दीन होता है। श्रद्धा ही सारे संसार का आधार है। वह तर्क की कसौटी पर नहीं कसी जाती 'अश्रद्धास्तरूण पत्रया कथं स सुखमेधते'। सुव्यवस्थित तर्क और श्रद्धा एक ही मुद्रा के दो पक्ष हैं। यही पौरुष है। श्रद्धा से किया गया परश्रिम कभी निष्फल नहीं होता।

परं पौरुषमाश्रित्य श्रद्धा सत्तर्कपोषितम्।
श्रेयसां च मुख्यतमं साधनं च समाश्रयेत्।। (7.7)

पूर्ण विश्वास होने पर ही श्रद्धा अनुकरणीय है। 'श्रद्धा सत्सु विधातव्या यथा श्रेयः समाप्नुयात्' (33)। श्रद्धा के बिना संसार नष्ट होता है—त्याग, संग्रह किसी में भी प्रवृत्ति नहीं होती। श्रद्धा के बिना कृषक, बाल, वृद्ध सभी निरर्थक हो जाते हैं। श्रद्धा से ही श्रेयोपलब्धि होती है। श्रीदुर्गा सप्तशती में भी श्रद्धा का उल्लेख हुआ है। 'या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता'। समस्त भूतों में महाशक्ति श्रद्धा रूप में ही संस्थित है। सप्तशती के चतुर्थ अध्याय में देवता कहते हैं—

श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा।
तांत्वाम् नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥ (4.5)

भगवती सत्पुरुषों में श्रद्धा रूप से ही अवस्थित है। श्रद्धा और पौरुष में किसी का विघ्न नहीं पड़ता है—

श्रद्धा मन्ये मातरं लोकमार्गे।
सा वै सर्वा ओषधीः संप्रसूते॥
आन्वीक्षिक्यां किन्नु मे भावबन्धः।
सा ता एता निस्तुषाः संविधत्ते॥

(श्रद्धा मेरी मां है, किंतु प्रिया है आन्वीक्षिकी ही, श्रद्धा भूमि है अन्न उपजाने वाली, किंतु भूसा हटाने वाली दान या उड़ावनी है—आन्वीक्षिकी ही, जहां तक लोकपथ का संबंध है।)

पंचदशी (11.120) में विद्यारण्य स्वामी कहते हैं— 'श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्त निश्चिनोत्येत सर्वथां'—श्रद्धा से ब्रह्मानंद की अनुभूति अवश्य होती है।

यहां पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानंद सरस्वती के विचार भी द्रष्टव्य हैं। जपसूत्रम् में उन्होंने श्रद्धा की अन्यतम विवेचना की है। उनका कथन है—

मन्त्रं यन्त्रं च तन्त्रं च श्रद्धाच्छन्दः स्वराश्चवै।
एतत्त्रितय विज्ञानं सेतुज्ञानं समासतः॥

(जपसूत्रोपक्रमणी 17)

मंत्र, यंत्र तथा तंत्र—तीनों का जैसा साम्य है वैसे ही साथ-साथ श्रद्धा, छंदः एवं स्वर का सेतु रूप से आश्रय लेना होता है। श्रद्धा रूप सेतु के द्वारा दो वस्तुओं में एकरूपता आती है। छंदः सेतु से एकतानता और स्वर सेतु से एकवृत्तिता आती है। जप में नाभिगत वैषम्य को श्रद्धा (भक्ति) द्वारा ही दूर किया जा सकता है। छांदोग्य श्रुति की विद्या, 'श्रद्धया, उपनिषदः वा वीर्यवत्तरं भवति' में पूज्यपाद श्रद्धा का अर्थ—'काम के साथ हृदय का योग' लेते हैं। श्रद्धा ही उसके मूल में है। यही उत्थान की क्रमोन्नत धारा है। इसको पूज्यपाद ने 'शंकर' धारा कहा है, यही 'शुक्लधारा' है। विद्या, श्रद्धा एवं उपनिषद् के शैथिल्य, वैकल्प एवं क्लैव्य के कारण यह जड़ तुल्य 'संकर धारा' बन जाती है। विद्या, श्रद्धा एवं उपनिषद् त्रिवेणी है। अतएव समस्त सिद्धियों के लिए श्रद्धालु होना आवश्यक है। इसी की विवृत्ति करते हुए वे पुनः कहते हैं कि इष्ट के साथ 'शुभ संधि' चाहिए—यह शुभ संधि ही श्रद्धा है। इसी से जपादि साधन इष्ट होते हैं। विद्या द्वारा शुद्धि, श्रद्धा द्वारा ऋद्धि और उपनिषद् द्वारा बुद्धि-लाभ होता है। श्रद्धा मन की भावाख्या है। श्रद्धा ही जप को फलप्रसू करती है। क्रिया-प्रधान, भाव-प्रधान और ज्ञान-प्रधान साधना का मूल श्रद्धा है। मंत्र चैतन्य के लिए भी जापक की श्रद्धा और गुरुभक्ति पर ही उसका उपयोग होगा। पूज्यपाद ने श्रुति की व्याख्या करके श्रद्धा का नूतन रूप जप-साधना में प्रस्तुत किया है। जपसूत्रम् में अनेक स्थलों पर श्रद्धा का विवेचन पूज्य स्वामीजी ने किया है, जो नवीन और नितांत मौलिक है।

त्रिकदर्शन में शिव की सिसृक्षा उसकी शक्ति है, यही मूलतः श्रद्धा है। वही शिव की आत्मिक शक्ति है। अभिनवगुप्त कहते हैं 'काम इच्छा सचिन्मात्र रूपा' सचिन्मात्र रूप इच्छा ही काम है। श्रद्धा को 'कामायनी' कहने का यही रहस्य है, 'इष्यमाणा नाना रूपिता'—शुद्ध इच्छा ही श्रद्धा है। तंत्रालोक में कहा गया है—'धूपैश्चतर्पघं कार्यं श्रद्धा भक्तिभीक्तबलोऽचितेः' (26-25)। श्रद्धा से ही शिव की उपासना करनी चाहिए। महानिर्वाण तंत्र में उल्लेख है—

धनेन वसुना प्रेम्णा श्रद्धयामृतभाषणैः।
सततंतोषयेद्यारान्नाप्रियं क्वचिदाचरेत्॥

इनमें धन, वसु, प्रेम, वृद्ध पत्नी आदि को श्रद्धा से प्रसन्न करने का मंतव्य है।

भारतीय दर्शन में वैशेषिक दर्शनानुसार धर्म के सामान्य साधनों में श्रद्धा सर्वप्रथम है। 'धर्मे श्रद्धा धर्मेमनः प्रसादाः' (प्रशस्त भाष्य)। वेदांतसार में गुरु द्वारा उपदिष्ट वचनों में अटूट विश्वास ही श्रद्धा है। 'गुरूपदिष्ट वेदांत वाक्येषु विश्वासः श्रद्धा' (4 खंड)। 'विवेक चूड़ामणि' में कहा गया है—

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्वधारणम्।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते॥

(साधन चतुष्टय 26)

शंकराचार्य ने सत्त्वगुण में श्रद्धा का होना अनिवार्य माना है। साथ ही श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग को मोक्ष का उपाय माना है। उनका कथन है—

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्य बुद्ध्यावधारणम्
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया सत्यमवाप्यते॥

इसके साथ ही हमें श्रद्धा और भक्ति के पारस्परिक संबंधों पर भी विचार करना चाहिए। हमने वैदिक साहित्य में श्रद्धा का स्वरूप देखा है। यद्यपि ऋग्वेद में 'भक्त' और अभक्त का प्रयोग हुआ है (1.125.5), पर सायण ने उसका अर्थ सेवामान और असेवामान यजमानों से किया है। आचार्यों का मत है कि वैदिक संहिताओं में दार्शनिक अर्थ में भक्ति का प्रयोग नहीं हुआ। 'भज्' धातु से वहां तात्पर्य अनुरक्ति अथवा पूजा के अर्थ में न होकर वितरण आदि के अर्थ में हुआ है। यास्क ने 'अग्नि भक्तिनी' का अर्थ भी भिन्न अर्थ में किया है। काशिका वृत्ति में 'भज्यते सेव्यते इति भक्ति' कहा है। डॉ. भंडारकर ने अदिति के संदर्भ में कुछ मंत्रों का तात्पर्य वैयक्तिक प्रेम और अनुराग किया है। इससे निष्कर्ष निकाला गया है कि भक्ति वैदिक काल में एक मनोवैज्ञानिक प्रत्यय के रूप में अवश्य रही होगी। डॉ. मृणाल दासगुप्त कहते हैं कि देवों और भक्तों का संबंध बंधुत्व के सदृश था। वैदिक ऋचाओं में इंद्र का संबंध सत्य से एवं वरुण का ऋत से है। पुनः डॉ. दासगुप्त का कथन है—

We need not doubt therefore that an inchoate but true spirit of Bhakti was present in the early religious literature of Rigveda. The later monothestic philosophical attitude is not fully defined until the doctrine of Bhakti is officially systematised in such works as the Bhagavadagita or sutras of Sandilya.

ब्राह्मण युग में कर्मकांड की प्रमुखता रही, पर धीरे-धीरे ब्रह्मक्रियाओं, यज्ञों और अनुष्ठानों से आंतरिक यज्ञ और अनुष्ठान पर अधिक बल दिया जाने लगा। उपनिषद् काल में साधना का यह रूप ब्रह्मानुभूति में विकसित हुआ एवं प्रतीकोपासना की पद्धति प्रचलित हुई। यह उपासना प्राण, वाक्, मनस, आकाश आदि तत्त्वों से संबद्ध थी। इसी से ज्ञान पर अधिक बल दिया जाने लगा। ज्ञान प्रतीकोपासना के परिणाम रहस्यात्मक चिंतन का संबंध विद्वानों ने 'परानुरक्ति' से जोड़कर 'निर्गुण भक्ति' का ही रूप समझा। वृहदारण्यक श्रुति में अंतर्यामी अथवा अक्षर की व्याख्या ब्रह्म के अवतार के ही निकट समझी जाने लगी। इस संबंध में पुनः डॉ. मृणाल दासगुप्त कहते हैं—

The term in which realisation of Brahman is described in many of its highly coloured messages of a theistic nature indicate that Brahman was not only intellectually apprehended as a psychophysical principle but also directly realised, more or less, as or personal being.

इसी से नैतिक सिद्धान्तों को भी प्रमुखता मिली और उन्हें आत्मानुभूति के लिए अनिवार्य माना जाने लगा। गुरु की आवश्यकता पर बल दिया जाने लगा। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने 'भक्ति' शब्द का प्रयोग किया (6.23)। याज्ञवल्क्य और शांडिल्य ने भक्ति की जो व्याख्या की वह इस दृष्टि से ध्यातव्य है।

श्रद्धा और भक्ति पर विचार करते हुए मिनोरू द्वारा (इंडो इरानियन जर्नल 7.5.124.145) भी श्रद्धा और भक्ति के पारस्परिक संबंधों का उल्लेख किया गया है। श्रद्धा के विभिन्न अर्थों की व्याख्या करते हुए एवं विभिन्न टीकाओं के माध्यम से श्रद्धा के कई वैयाकरणिक रूपों पर उन्होंने विचार किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—कर्म कारक के रूप में श्रद्धा का प्रयोग संदेश, वाक्, अग्नि, भूतर्थ आदि हुआ है। विभिन्न ग्रंथों में प्रयुक्त 'श्रद्धा' शब्द पर भी गंभीरता से विचार किया गया है—कालिदास, मल्लिनाथ आदि। इनका निष्कर्ष है कि भक्ति का लक्ष्य व्यक्तिनिष्ठ होता है और श्रद्धा का निर्वैयक्तिक। इस विद्वान की स्थापना है कि श्रद्धा और भक्ति में तारतम्य है। श्रद्धा एक मूलभूत सिद्धांत है और भक्ति उसका क्रियात्मक विकास। यह सब होते हुए भी दोनों संपृक्तार्थ नहीं।

तुलसीदास ने 'भवानीशंकरौ श्रद्धा विश्वासरूपिणौ' कहकर भवानी को श्रद्धा और शिव को विश्वास कहा है। श्रद्धा और विश्वास का अन्योन्याश्रित संबंध है। सृष्टि का उपक्रम ही श्रद्धा और विश्वास के संयोग से हुआ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार श्रद्धा महत् की आनंदपूर्ण के साथ-साथ पुण्य बुद्धि संचार है। यही विश्वास-कामना श्रद्धा की मूलप्रेरणा है (श्रद्धा-भक्ति)। प्रेम श्रद्धा से समन्वित होकर भक्ति भावना में परिणत हो जाता है। जब पुण्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा भावना के सामीप्य की प्रवृत्ति हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। भक्ति की रसात्मक अनुभूति में प्रेम आनंद रूप में परिणत होता है। प्रसाद ने भी अपने निबंध रहस्यवाद में अद्वैत भक्ति का रहस्यवादी विचारधारा में प्रांजल होना बताया है। 'शंकर की मानस पूजा' के श्लोकों का उद्धरण देते हुए उन्होंने आत्मा-आनंद की भक्तिपरक व्याख्या की है।

अब हम श्रमण संस्कृति में श्रद्धा का स्वरूप संक्षेप में देखें। बौद्ध धर्म एवं दर्शन में श्रद्धा पर अनेक दृष्टियों से विचार हुआ है। चर्या विवेचन में श्रद्धा चर्या का उल्लेख है—चर्या अर्थात् विशेष धर्म के प्रति अभिनिवेश। आचार्य नरेंद्रदेव ने 'बौद्ध धर्म-दर्शन' में इसकी विवेचना की है—'श्रद्धा, बुद्धि, वितर्क, चर्या—ये चार अपर चर्याएं हैं। जिस समय शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है, उस समय श्रद्धा बलवती होती है। श्रद्धा शीलादि गुणों का पोषण करती है। श्रद्धा चरित वह है जो अदुष्ट, अलुब्ध और प्रसन्न प्रकृति वाला है। ऐसे व्यक्ति का परित्याग निःसंग होता है और वह सद्धर्म श्रवण में उत्सुक रहता है।' पुनः दस कुशज महाभौमिक के अंतर्गत श्रद्धा को 'चित्त प्रसाद' कहा है। स्थिरवाद के अनुसार श्रद्धा शोधन चैतसिक है। ध्यान की दृष्टि से उसका संप्रसाद द्रव्य सत् है और वही श्रद्धा है। 'सुप्त निपात' में बुद्ध आत्नवक यक्ष से कहते हैं—'मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धन श्रद्धा है' (10.2)। बुद्ध के मतानुसार प्रज्ञा के पश्चात् श्रद्धा का ही स्थान है। श्रद्धा पुरुष का साथी है और प्रज्ञा नियंत्रण करती है। (सुत्तनिपातः 1.1.59)। गौतम बुद्ध को ज्ञानविहीन श्रद्धा अमान्य है। 'विसुद्धिमग्गो' में कहा गया है कि श्रद्धा के मंद होने पर व्यक्ति कुतर्की बनता है। प्रज्ञा एवं श्रद्धा का समन्वय आवश्यक है।

प्रकीर्णक वग्ग में बुद्ध कहते हैं 'यस वध इ प्रसच विय ओ पिअ।' बौद्ध मतानुसार भावना क्रम में जब श्रद्धा आदि इंद्रियां सुविशद और तीक्ष्ण हो जाती हैं तब कामादि दोषों का लोप हो जाता है और उपचार समाधि में चित्त समाहित हो प्रतिभाग निमित्त का प्रादुर्भाव होता है, जो वर्ण और आकार-हीन होकर भास्वर और स्वच्छ होता है। कुश महाभूमिक (सर्वकुशल चित्त) के धर्म हैं—श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, उपेक्षा। श्रद्धा चित्त प्रसाद होती है। विज्ञानवादियों ने शोभन प्रसारण के भेदों में श्रद्धा को एक माना है। वैभाषिकों के अनुसार द्वितीय ध्यान का संप्रसाद श्रद्धा है। योगी द्वितीय ध्यान का लाभकर गंभीर श्रद्धा उत्पन्न करता है। इसे 'अध्यात्म संप्रसाद' भी कहते हैं। श्रद्धचर्या प्रसाद गुण स्निग्ध है, जो शीलादि गुणों का पर्येषण करती है।

जैन धर्म में श्रद्धा (सद्दह) के लिए कहा है—

तहि आपां तु भावाणं सच्च सब्मा वे उवएसणं।
भावेणं सद्धहंतस्य सम्मतं तं विप्रादियं॥

अर्थात् तथ्य भावों का जीव आदि नव पदार्थों की स्वतः या परोपदेश से भावपूर्वक श्रद्धा करना सम्यकत्व है। उत्तराध्ययन (29'-35) में महावीर कहते हैं 'नाणेणं जाअइ भावे दंसणेण च सद्दहे'—आत्म ज्ञान से यथार्थ विश्वास श्रद्धा करती है। महावीर के अनुसार चार तत्त्व दुर्लभ हैं—माणु सतं, सुई श्रद्धा, संजमम्मि य वीरियं—मनुष्यत्व, धर्म तत्त्व, धर्म के प्रति श्रद्धा और सदाचार में पुरुषार्थ। महावीर का उपदेश है कि श्रद्धाहीन को ज्ञान नहीं, ज्ञानहीन को आचरण नहीं और आचरणहीन को मोक्ष नहीं। इस प्रकार ज्ञान के लिए श्रद्धा अनिवार्य है। उमास्वाति तत्त्वार्थ सूत्र (2) में कहते हैं'—'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं'। वस्तु स्वरूप का अर्थ सहित श्रद्धान करना ही सम्यक् दर्शन है। हेमचंद्राचार्य ने 'मोक्षोपायो योगो ज्ञान श्रद्धानाचारणात्मकः' कहा है। मोक्ष का उपाय योग, ज्ञान, श्रद्धा, रुचि और चरित्र है। उसकी परिभाषा है 'तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा' अर्थात् तत्त्वार्थी के विषय में उन्मुख बुद्धि श्रद्धा है और इसी के अनुसार चरित्र होता है। श्रद्धा का संबंध निश्चय बुद्धि और सम्यक् दर्शन से है। तत्त्व श्रद्धा दर्शन है और उसमें अनुभव की प्रधानता है। 'निजात्म श्रद्धानं भव हरं स्वीकृतिमिदम्।' श्रद्धामूलक शंका अतिचार नहीं है, क्योंकि ऐसी जिज्ञासा श्रद्धा पर स्थित है। महावीर ने श्रद्धा के साथ तर्क को भी स्वीकारा है। प्रज्ञा, तर्क और बुद्धि से धर्म की परीक्षा करनी चाहिए। उनके मतानुसार विवेकहीन श्रद्धा अंध श्रद्धा है क्योंकि उसमें औचित्य-अनौचित्य का ज्ञान नहीं रहता। उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान के पश्चात् ही श्रद्धापरक दर्शन परिगणित किया गया है। आनंदघन शुद्ध श्रद्धा बिना सभी क्रियाओं को वृथा समझते हैं।

अन्य धर्मों में भी श्रद्धा का महत्त्व स्वतःसिद्ध है। कुरान में हजरत मुहम्मद कहते हैं 'अल्लाह यथार्थ श्रद्धावान के हृदय में विशुद्ध शांति भेजते हैं, जिससे वे अधिक श्रद्धा युक्त हो सकें' (36)। ईसाई मत में आत्मा का फल प्रेम, आनंद, शांति, सौजन्य, श्रद्धा, नम्रता आदि है। ईसाई मत में श्रद्धा आशा का संबल है। ईसाई मत श्रद्धा को बौद्धिक प्रकर्ष मानता है। ईश्वरीय सत्ता में विश्वास और विधान की अनुक्रिया है—वह ईश्वरीय उपहार है, यथार्थ है। पंचभूतों की भांति उसका अनुभव होता है। यहूदी मान्यता के अनुसार श्रद्धा आशा का तात्त्विक विधान है और अलक्ष्य वस्तुओं का साक्ष्य (हेतु 11.1.9) है। श्रद्धा पारलौकिक सत्ता की स्वीकृति है और आस्तिकता के साथ दिव्य व्यवस्था में अटूट विश्वास है। पारसी धर्म में भी कहा गया है कि साधुता का कार्य शांति है और फल स्थिरता और श्रद्धा है। सर्वांतःकरण से परमेश्वर में श्रद्धा रखना ही चाहिए। सिख धर्म के प्रसिद्ध 'जपुजी' में श्रद्धा के लिए कहा गया है कि श्रद्धा से ही मोक्ष का द्वार प्राप्त होता है। मनुष्य का उद्धार होता है। संसार में गुरु-शिष्य दोनों ही तर जाते हैं। उस पर श्रद्धा रखो। सार-संक्षेप यह सिद्ध करता है कि श्रद्धा का महत्त्व प्रायः सभी धर्मों में विद्यमान है।

श्रद्धा के अंग्रेजी पर्याय के संबंध में विचार करें, क्योंकि इसको लेकर भी वैमत्य है। सीताराम शास्त्री ने श्रद्धा का पर्याय 'डिवोशन' और 'फेथ' कहा है। एस. सी. वसु उसे 'फेथ' एवं 'अरनेस्टनेस' कहते हैं। ए. बी. कीथ ने 'फेथ' ही किया है। ई. बी. कावेल के अनुसार श्रद्धा 'बिलीफ' है। पाल ड्यूसन ने इसका पर्याय जर्मन भाषा में 'ग्लाव' किया है। स्कैंडर श्रद्धा को 'ट्रस्ट, बिलीफ, ट्रुथ एवं अपराइटनेस' कहते हैं। कुछ विद्वानों ने 'कॉनफिडेंस' कहा है। अर्ल कारपेंटर ने श्रद्धा को 'लांगिंग' माना है। यों प्रायः 'फेथ' ही स्वीकारा गया है। मैग्डूगल के अनुसार आत्महीनता की भावना श्रद्धा के लिए अनिवार्य है। मनोवैज्ञानिक अलेक्जेंडर वेन ने श्रद्धा के लिए 'एडमिरेशन' और 'ईस्टीम' शब्दों का प्रयोग किया है। उसका कथन है—

Admiration is the response to pleasurable feeling aroused by excellence or superiority, a feeling closely allied to love. Esteem refers to

performance of duties where neglect is attended with evil.—पर यह कथन भारतीय दृष्टि से श्रद्धा का अर्थ निरूपित नहीं करता।

इस प्रकार श्रद्धा एक व्यापक और सार्वभौम तत्त्व है। वह मानवीय जीवन की उच्चता का परम साधन है और मूल्यों का उपक्रम। आधुनिक मनोविज्ञान में भी श्रद्धा का विवेचन किया गया है। कवियों, कलाकारों, समाजशास्त्रियों ने श्रद्धा को मानव जीवन का महनीय और अपरिहार्य तत्त्व माना है। इस सब पर विचार करने से उसकी सर्वमान्य व्यापकता स्वतःसिद्ध हो जाती है। इस लेख में मुख्यतः भारतीय विचारधारा के अनुसार श्रद्धा तत्त्व पर विचार किया गया है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

शमण दर्शन संसार के विभिन्न अंचलों में फैला है। यह वस्तुतः साइबेरिया की एक टुंगस आदिवासी जनजाति है जो प्राचीनकाल से आत्मसाधना को जीवन में उतारे हुए है। जैन इतिहास इसका साक्षी है कि प्राचीनकाल की ये जनजातियां मूलतः जैन धर्म का पालन करने वाली रही हैं। शमण जनजाति से जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का आभास हरा-भरा हो जाता है। उसकी इस विशेषता को ध्यान में रखकर ही कदाचित् नृतत्त्वज्ञों ने यह नाम इस आदिवासी जनजाति को दिया है Miraea Eliada ने इसे Shamanic state of consciousness कहा है। शमणधर्म इस जनजाति की एक आध्यात्मिक यात्रा है जो जनता के दुख-दर्द को दूर करने की दृष्टि से की जाती है।

❑ ❑

श्रमण दर्शन की व्यापकता

❑ प्रो. भागचंद्र जैन 'भास्कर' ❑

श्रमण दर्शन आत्मदर्शन है। यह समता, संयम, समन्वय, सहयोग और सद्भाव पर आधारित है। यह व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि की ओर दृष्टि देता है और इसी दृष्टि में सृष्टि समाविष्ट है। यह सृष्टि एक जीवन पद्धति है जो प्रकृति के साथ हिली-मिली है। इसलिए श्रमण दर्शन प्राकृतिक दर्शन है, प्रकृतिवादी है, आत्मवादी है। जैन और बौद्ध धर्म भी इसी श्रमण दर्शन की शाखा हैं।

जैन दर्शन अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांतवाद की पृष्ठभूमि में स्व-पर पर चिंतन प्रस्तुत करता है। इसलिए वह ससीम होते हुए भी असीम है। मानवता की भी कोई सीमा नहीं होती। जैन धर्म भी असीम मानवतावादी है। इसलिए वह हर दृष्टि से व्यापक है। यहां हम उसकी इसी व्यापकता पर विचार करेंगे। इस व्यापकता का संबंध हमने यहां उसके प्रचार-प्रसार की दृष्टि से संयोजित किया है। विदेश में प्राप्त शमण दर्शन और माया संस्कृति जैन धर्म के ही अंग लगते हैं जिन पर हम यहां विचार करेंगे।

परमानंद प्राप्ति का माध्यम

शमण (श्रमण) धर्म वस्तुतः परमानंद (एक्सटेसी-ecstasy) पाने का माध्यम है। इसे हम समाधि का रूप कह सकते हैं, जिसमें मन को एकाग्रकर आत्मचिंतन किया जाता है। इसी से ऋद्धि-सिद्धि भी प्राप्त होती है। जनसाधारण विद्वान उसकी इस अवस्था को चमत्कार और जादू से जोड़ लेते हैं। वस्तुतः यह अवस्था अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान की है जिसमें आध्यात्मिक संत स्वयं की संसार के सभी जीवों के साथ एकात्मकता स्थापित कर लेता है, मानव और प्रकृति की सार्वभौमिकता को आत्मसात कर लेता है।

रूसी विद्वानों ने नृतत्त्व विद्या के आधार पर शमणों का उत्तरी साइबेरिया के लोगों से संबंध स्थापित किया। पर उन्होंने उनके दर्शन आदि के विकास के संदर्भ में जानकारी नहीं दी। पाश्चात्य विद्वानों ने इस ओर ध्यान अवश्य दिया, पर उस पर गहराई से चिंतन इसलिए नहीं हो सका क्योंकि उनके पास जैन धर्म के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं थी। मुख्य प्रश्न यह उठाया गया है कि क्या शमण दर्शन और धर्म में कोई संबंध है?

रहस्यवादी वृत्ति

19वीं शती में पाश्चात्य विद्वानों ने इस प्रश्न पर अधिक विचार किया। रोलेन्द डिक्सन (Roland Dixon) आदि विद्वानों ने शमणों को रहस्यवादी कहा और सामान्य चिकित्सकों से उन्हें भिन्न बताया। ये शमण तदुनसार भूत-प्रेतों से संबंध स्थापित करने वाले होते हैं। विलहेम स्किमित (Wilhelm Schmidt) ने उन्हें साइबेरिया का बताकर उनको मात्र जादूगर कह दिया। पर यह कहना नितांत भूल होगी। उनकी धार्मिक दृष्टि को समझे बिना उन्हें मात्र जादूगर कहना उचित नहीं होगा।

शमणों का त्रिलोक सिद्धांत तथा यान का रूप उन्हें

धार्मिक या जादूगर कहने को बाध्य करता है। इन ईसाई विद्वानों ने उन्हें ईसाई के रूप में ही देखने का प्रयत्न किया है। 19वीं शती के पूर्व उनकी इन शमणों के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं थी और फिर जो जानकारी दी, वह अधूरी रही। इन विद्वानों ने धर्म की व्याख्या को संस्थानगत माना, पौरोहित्य से उसे जोड़ा और शमणों के धर्म को धर्म की परिधि से बाहर रखा। पर धर्म को यदि व्यष्टि से समाविष्ट की ओर ले जाएं तो शमण धर्म धर्म की सीमा में आसानी से आ जाता है। वह एक ऐसा धर्म है जो आत्मवादी है, परलोक में विश्वास करता है, ध्यान, कर्म और कर्मकांड में श्रद्धा रखता है या समाधि के रूप के आधार पर उसकी स्वरूप-स्थिति निश्चित की जाती है। श्रमण धर्म का यह समाधि रूप उसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है।

परमात्म-दर्शन

शमण दर्शन परमात्मा का साक्षात्कार करने में विश्वास करता है। इस संदर्भ में सर्ग किंग (Serge King) ने उसके द्वारा मान्य चार लोकों का निरूपण किया है—

(1) इके पापकही (बाह्य संसार)—इसके अंतर्गत बाह्य संसार का ऐंद्रियिक रूप सामने रहता है जिसमें पृथ्वी आदि पंचभूत तत्त्व और पशु-पक्षी जगत समाहित हैं। कमल आदि प्रतीकात्मक हैं। व्यक्ति की दृष्टि में पर-पदार्थ की समीक्षा होती है। तदनुसार प्रत्येक पदार्थ का आदि और अंत होता है और प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होता है। यह कर्मवाद की व्याख्या है। शमण यही स्वीकार करता है और उसके साक्षात्कार के लिए ध्यान का प्रयोग करता है, साथ ही, जड़ी-बूटियां, औषधियां, रंग-चिकित्सा आदि को भी अपनाया जाता है।

(2) इके पापलुआ (आत्मनिष्ठ संसार)—प्राकृतिक संसार परस्पर संबद्ध है। इसमें प्रकाश-अंधकार, हवा-पानी, मिट्टी-पत्थर, पेड़, पक्षी, फूल आदि पदार्थ समाविष्ट हैं जो व्यक्ति से संबद्ध हैं। व्यक्ति के समान उनका भी आभामंडल रहता है और योगी उनसे संबंध स्थापित कर सकता है, मन को टटोल सकता है, अतीत और भविष्य से नाता जोड़ सकता है। वे सब पदार्थ एक ही चक्र के अंग हैं। इसी आत्मतुला सिद्धांत के आधार पर शमण सभी जीवों को अपने समान मानता है। समाधि के माध्यम से वह देवों से संबंध स्थापित कर लेता है। यह उसका समतावाद है।

(3) इके पायकोलु (प्रतीकात्मक संसार)—प्रतीकों के माध्यम से शमण धर्म अपने दर्शन को प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ वृक्ष आंतरिक शक्ति का, पक्षियों की आवाज आनंद का, सूर्य का प्रकाश परमात्म शक्ति का, अंधकार अज्ञान का प्रतीक है। प्रत्येक पदार्थ प्रतीकात्मक है। ये प्रतीक व्यक्ति के विचारों के भी प्रतीक कहे जा सकते हैं। दर्शन की व्याख्या में इसका उपयोग होता है।

(4) इके पापकह (पवित्र संसार)—व्यक्ति संसार का अंग है। सभी एकात्मक हैं। शब्द की भी सीमा होती है। वह पदार्थ का एक साथ सही वर्णन नहीं कर सकता। दूसरे की दृष्टि का भी ध्यान रखना आवश्यक है। संघर्ष बचाने के लिए भी उसका समादर करना आवश्यक है। जैन दर्शन का यह अनेकांतवाद और स्याद्वाद का ही रूप है। यह चिंतन अंतर की पवित्रता को द्योतित करता है।

योग और ध्यान

ये चारों संसार मन की गतिविधियों के विविध रूप हैं। मन को केंद्रितकर उनका अनुभव किया जा सकता है और क्रमशः परमात्म पद को प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए ध्यान के समय अनेक आसनों का प्रयोग किया जाता है। उनमें कायोत्सर्ग, पद्मासन, गायन मुद्रा विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मुद्राओं में बैठकर पशु-पक्षियों की विभिन्न अवस्थाओं का साक्षात्कार किया जाता है जिससे व्यक्ति अपने कर्मफलों पर चिंतन करता है। फ्रांस में शमणों की ऐसी मुद्राओं के पंद्रह सौ वर्ष पुराने गुहाचित्र मिले हैं। सन् 1970 में पेरू के एक भारतीय शमण ने स्विस नृतत्त्ववेत्ता के लिए इन मुद्राओं के चित्र भी बनाए थे। शमण की इन मुद्राओं पर विदेशों में काफी काम हो रहा है।

कर्मकांडीय व्यवस्था

शमण का कार्य देवों से संबंध स्थापित करना है। इन शमणों के अनेक संप्रदाय हैं जो आदिवासी जातियों के रूप में देश-विदेश में फैले हुए हैं। देवों से संबंध स्थापित करने की उनकी अपनी कर्मकांडीय व्यवस्था है जो समय-समय पर क्षेत्रों के अनुसार बदलती रही है। इसी के माध्यम से वे पशु-पक्षियों के साथ भी संपर्क कर लेते हैं। मोंग (mong) और यो शमण (yao shaman) चिकित्सा के साधन के रूप में आच्छादन, घंटा और यज्ञवेदी तथा देहली के बीच बांधा जाने वाला एक पट (Bridge) और धागा साथ रखते हैं जो बांस में बांधे जाते हैं। देवों आदि से संपर्क करने के ,ये साधन यज्ञ-मंडप का काम करते हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया

में इसे बोकवे (bowkwae) कहा जाता है। चीन में इस शमण साधना का संबंध ताओ धर्म से भी रहा है। यहां सर्वत्र पट (Bridge) एक प्रतीक है—देवों से संपर्क करने का। इन शमणों में अध्यात्म शक्ति रहती है जो परलोक में रहने वालों से संबंध स्थापित कर लेती है।

पुरोहितवाद

समय के साथ शमण साधना में परिवर्तन भी होता रहा है। कालांतर में पुरोहितवाद ने उसका स्थान ले लिया। उत्तर अमेरिका, मेक्सिको, केनेडा आदि देशों में इस पुरोहितवाद पर शोध कार्य हो रहा है। इसे हीलिंग प्रेक्टिस (Healing Practice) कहते हैं। इसमें देवों या आत्माओं (Spirits) को स्वयं में उतार लिया जाता है। यह साधना कठिन होती है, इसलिए वर्तमान में ऐसे साधकों की संख्या अधिक नहीं है। अब इसमें मनोविज्ञान ने भी प्रवेश कर लिया है। नए शमण प्राचीन परंपरावादी शमणों की अपेक्षा अधिक उदार हैं जो आभामंडल और चक्रों में विश्वास करते हैं। वे वैकल्पिक क्षेत्र (alternate reality) में रहने वाली आत्माओं से संपर्क करने में इस साधना का प्रयोग कुछ नए ढंग से करते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में अब उनका भलीभांति उपयोग किया जाता है। स्टानिसलाव ग्रोफ, स्टेनले क्रिप्पनर, जीन चिटरबर्ग (Stanislav Grof, Stanley Krippner, Jeanne Achterberg) आदि विद्वानों ने शमणों की हीलिंग फिलोसफी व तकनीक (Healing Philosophy and Techniques) पर अच्छा काम किया है।

अंतर यात्रा

आधुनिक चिकित्सा में बाह्य संसार को देखा जाता है, पर शमण साधना आंतरिक यात्रा पर जोर देती है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें आधुनिक चिकित्सक कुछ नहीं कर सकते। इस तथ्य को अमेरिका के चिकित्सक संघ (Association of American Medical Colleges) की रिपोर्ट ने भी स्वीकारा है। इस रिपोर्ट में शमण साधना को परमानंद पाने का साधन (Technique of ecstasy) कहा गया है। यह वस्तुतः आत्म-साधना है जो आधुनिक चिकित्सा के बाहर है।

बी. एल. फोंटना, क्लाड लेविस्ट्रस (B. L. Fontana, Claude Levi-strauss) आदि विद्वानों ने इस शमण साधना का संबंध भारत से स्थापित किया है। मेक्सिको में तो अभी भी ऐसे कुछ साधक हैं जिनका नृतत्त्वविद्या के आधार पर अध्ययन करने के बाद ये विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह विद्या पाश्चात्य तो नहीं ही है। इसमें प्रार्थना और प्रेम पर अधिक जोर दिया जाता है। शुद्ध भोजन और जड़ी-बूटियों के माध्यम से सभी तरह के रोगों की चिकित्सा की जाती है। आध्यात्मिक रूपांतरण भी इस चिकित्सा में सहायक बनता है। मन को एकाग्रकर शुभ भावों में विचरण करने से शारीरिक रोगों का आक्रमण नहीं होता।

जोन हालीफिक्स (Joan Halifax) ने इस साधना को बौद्ध साधना से संबद्ध किया है, पर वस्तुतः इसे उसकी पूर्ववर्ती जैन साधना का रूप माना जाना चाहिए। इन्हें भारतीय शमण कहा जाता है और भारत में इन शमणों की यह विद्या आज भी जीवित है। इसकी प्राचीन कथाओं में जैन साधना का रूप प्रतिबिंबित होता है। वस्तुतः ये शमण जैनों के समान प्रकृतिवादी हैं और पर्यावरण को विशुद्ध बनाए रखने में उनका बहुत बड़ा योगदान माना जाता है।

प्राकृतिक तत्त्व

शमण धर्म में खनिज, वनस्पति, प्राणी जगत और मानव—ये चार वर्ग हैं, जो परस्पर संबद्ध हैं। ये सभी प्राकृतिक तत्त्व अकल्पित हैं, किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं। इसमें पार्थिव तत्त्वों का मूल्य अधिक है। योग साधना के द्वारा मन को केंद्रित करना, दान देना, मानवीय भावनाओं का स्मरण करते रहना, शुद्ध जीवन बिताना आदि जैसे तत्त्व हैं, जो बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म के अधिक समीप हैं। कैलाश पर्वत को जिसे जैन परंपरा में मेरु कहा जाता है जैन धर्म के समान शमण धर्म में भी योग-साधना स्थली के रूप में स्वीकारा गया है।

श्रमण (पालि-प्राकृत समण) शब्द यद्यपि भारतीय संस्कृति में पला-पुषा शब्द है, पर उसकी व्यापकता पर यदि हम विचार करें तो उसका संबंध समूचे ऐसे पशु-जगत से भी है जिसे अज्ञानतावश लोग अपने स्वार्थ के उद्देश्य से बलि के रूप में देवी-देवताओं को चढ़ा देते हैं। विदेशों में भी यह प्रथा रही है। वहां उसे शमण या शमण धर्म (Shamanism) कहा जाता है। उसका यह चित्र सिंधु सभ्यता में प्राप्त उस मुद्रा से मिलता है जिसके शिर पर दो सींग हैं। प्राचीन समय की यह एक ऐसी दृश्य परंपरा है जिसके माध्यम से देवी-देवताओं और भूत-पिशाचों से संबंध स्थापित किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शमण एक ऐसा साधु-संप्रदाय है जो व्यक्ति

और समाज के दुख-दर्द को दूर करता है और परंपरा से उनका संबंध स्थापित कर देता है।

आत्मयात्रा

दुखमोचक होने के कारण शमण को ऋद्धिधारी जादूगर का रूप भी मिला है। यूरोप और सेंट्रल एशिया में, विशेषतः उजबेकिस्तान में, बालक के ऐसे शव मिले हैं जिनके शिर पर दो सींग लगा दिए गए हैं। ये आत्माएं पहाड़ और वृक्षों में आवास करती हैं। यह पाश्चात्य यूरोप की प्राक् ऐतिहासिक गुहा और म्युरल आर्ट का जीता-जागता उदाहरण है। इसे लगभग 15000 वर्ष पुराना माना जाता है। ऋद्धि या जादू और धर्म का प्राचीन संबंध भी रहा है। इसे वहां अरिमा (Arima) या सोल (Soul) कहा जाता है जो पेड़-पौधों में भी रहता है, देवी-देवताओं के रूप में जन्म लेकर प्रकट होता है। इसे हम आत्मा की यात्रा कह सकते हैं। भूत-पिशाचों से संबंध स्थापित करने में ड्रम को भी पीटा जाता था।

अध्यात्मवाद

शमण धर्म एक प्रकार का अध्यात्मवाद है जो आत्माओं से संबंध स्थापित करता है। इसमें जन्म-मरण की परंपरा, इंद्रिय-संयम जैसे तत्त्व सन्निहित हैं। ये शमण उत्तर अमेरिका, मेक्सिको, दक्षिण अमेरिका, आस्ट्रेलिया, साइबेरिया, इंडोनेशिया, मलयेशिया, तिब्बत, नेपाल, चीन आदि देशों में पाए जाते हैं। शमण धर्म के अनुसार लोक के तीन भाग हैं—ऊर्ध्वभाग में आकाश है, जहां दोनों ओर शुद्ध आत्माओं का आवास है। मध्यलोक में मनुष्य और पशु-पक्षी रहते हैं और अधोलोक में अपराधी प्रवृत्ति की आत्माएं रहती हैं, जिन्हें हम नारकीय कह सकते हैं। इसकी एक कर्मकांडीय परंपरा भी है।

यह शमण धर्म यद्यपि मंगोलवादी है, पर इसका संबंध जैन धर्म की श्रमण परंपरा से स्थापित किया जा सकता है। शब्दसाम्य और दर्शनसाम्य की समीक्षा करने से लगता है—यह जैन धर्म का ही एक विकृत रूप है जो भूत-पिशाचों से संबंध स्थापित करने में विश्वास करता है। उसे पवित्रता का प्रारंभिक रूप कहा जाता है, जो उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक, श्रमण, जैन इतिहास। उच्चकोटि के शमण को देवों का रूप माना जाता है जिसे आध्यात्मिक संत कह सकते हैं और उसका निम्नवर्ग गृहस्थ रहता है। साइबेरियन शब्दावली में आध्यात्मिक शमण को 'अमुरख' कहा जाता है जो कदाचित् 'अमृत' या 'अमर' का द्योतक है। पशु-पक्षी और सर्प उसके लोकप्रिय प्रतीक हैं और आकाशगंगा को शमण दर्शन में एक 'मोटिफ' का रूप मिला है जो लोकों के बीच सेतु का काम करता है।

आत्मसाधना

ये शमण सच्चे योगसाधक हैं। द शमनस् डोर-वे (The shamans Doorway) में स्टीफेन लारसेन (Stephen Larsen) ने जुंग आदि मनोवैज्ञानिकों का उल्लेख करते हुए यह संकेत किया है और संभावना व्यक्त की है कि इन शमणों का मूल रूप बौद्ध श्रमणों की साधना रही है। हम जानते हैं कि विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार अधिक हुआ है और वहां के विद्वानों के समक्ष बौद्ध साधना का ही रूप रहा है। शमणों की प्राचीनता के संदर्भ में सोचने के बाद ये श्रमण बौद्धों की अपेक्षा जैन श्रमण के निकट अधिक होने चाहिएं। इन साधकों की साधना के पूर्वरूप पर पुनः विचार किया जाना आवश्यक है।

स्टीफेन लारसेन (Stephen Larsen) ने इन शमण साधकों की साधना के कुछ रूप प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर प्रस्तुत किए हैं जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है। ये हैं—

1. आत्मतुला सिद्धांत : पर्यावरण का ध्यान रखते हुए प्राणियों के प्रति करुणा का भाव इन साधकों की साधना का मुख्य अंग है। मारुदुक देवी इसका प्रतीक है। सभी जीव समान हैं, इसलिए उनकी हिंसा नहीं की जानी चाहिए। हम क्या करते हैं और कैसे करते हैं—इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मन की चंचलता को संयमित कर शारीरिक तपस्या पर भी शमण साधना विश्वास करती है।

2. अनेकांतवाद : जीवन और संसार का परस्पर संबंध है। एकांतवाद विनाश को निमंत्रण देता है और अनेकांतवाद उस विनाश और संघर्ष को दूर कर विकास का पथ प्रशस्त करता है। रेखाएं चाहे आड़ी हों या खड़ी हों, समानांतर ही रहती हैं, जो यह कहती हैं कि दूसरे के विचारों पर सहिष्णुतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। इसे हम अनुशासन की संज्ञा ही दे सकते हैं। अहंकार इस अनुशासन में बाधक होता है, सर्प के समान जहरीला होता है, इसे योग और साधना के माध्यम से दूर किया जाना चाहिए।

3. ऋद्धि साधना : शमण दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। आत्मसाधना से साधक ऋद्धियां प्राप्त कर लेता है। उसी को साधारण शब्दों में चमत्कार प्रदर्शन कहा जाता है। शमणों को जादूगर के

नाम से जाना जाता है। यह वस्तुतः उनकी आत्मसाधना का चमत्कार है। लारसेन ने कार्ड लेवेट्ट आदि अनेक ऐसे साधकों का उल्लेख किया है, जिन्हें अध्यात्म शक्ति का आभास हो गया है। इस दर्शन में एक वृद्ध राजा को प्रतीक के रूप में दिखाया गया है, जो इस तथ्य को संकेतित करता है कि जीवन जन्म-जीव-मृत्यु का ही दूसरा नाम है। मृतात्माओं से संबंध स्थापित करना श्रमण साधकों की साधना का फल कहा जाता है। शमण दर्शन में एक पौराणिक परंपरा है जिसके अनुसार नर और नारी समान रूप से अध्यात्म साधना करते हैं। अध्यात्म साधना करते समय ब्रह्मचर्य व्रत का पालन भी आवश्यक है।

4. शाकाहारिता : शमण दर्शन मानवता और अहिंसा पर आधारित है। वह शाकाहारी है और मांसाहार से दूर रहता है। आत्मतुला सिद्धांत पर प्रतिष्ठित यह दर्शन महाकरुणावादी है और पारस्परिक सहयोग और सद्भाव में विश्वास करता है, समन्वय और आत्मसंयम पर विश्वास करता है। वह वस्तुतः प्रज्ञा की साधना है।

यह शमण दर्शन संसार के विभिन्न अंचलों में फैला है। यह वस्तुतः साइबेरिया की एक टुंगस आदिवासी जनजाति है जो प्राचीनकाल से आत्मसाधना को जीवन में उतारे हुए है। जैन इतिहास इसका साक्षी है कि प्राचीनकाल की ये जनजातियां मूलतः जैन धर्म का पालन करने वाली रही हैं। शमण जनजाति से जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का आभास हरा-भरा हो जाता है। उसकी इस विशेषता को ध्यान में रखकर ही कदाचित् नृतत्त्वज्ञों ने यह नाम इस आदिवासी जनजाति को दिया है मिराई ईलाइडा (Miraea Eliada) ने इसे शमनिक स्टेट आफ कोंसियशनेस (Shamanic state of consciousness) कहा है। शमण धर्म इस जनजाति की एक आध्यात्मिक यात्रा है जो जनता के दुख-दर्द को दूर करने की दृष्टि से की जाती है। वह शमण उसे भूत-पिशाचों के चंगुल से मुक्त कराता है। उसके दर्शन में पेड़, पौधों आदि में आत्मा का अस्तित्व है। आत्मा अजर-अमर है, सर्वत्र-संगीत और पवित्र आचरण के माध्यम से यह एक अनुशासित जीवन-यात्रा है जो पर-कल्याण से संबद्ध है।

शमण दर्शन की प्राचीनता उसे ईसाई या बौद्ध धर्म से संबद्ध नहीं कर पाती। उसकी प्राचीनता और मानवीय सिद्धांत उसे जैन धर्म से संबंध स्थापित करने को बाध्य कर देते हैं। इस विषय पर खुले दिमाग से विचार किया जाना चाहिए। ❖

सार्वजनिक जीवन में नाना प्रकार के प्रयोग करने का उत्साह और उससे होने वाली निष्पत्ति को समझना हो तो हमें पश्चिम की ओर देखना होगा। जहां तक ध्येयों अथवा विचारों का प्रश्न है, हो सकता है कि भारतवर्ष में ध्येयों, विचारों का दर्शन, उनका साक्षात्कार अधिक स्पष्टता एवं सुगमतापूर्वक होता है, किंतु इन ध्येयों, विचारों को कृति में परिणत करना, उनको सामाजिक संगठन में लगाना—यह बात पाश्चिमात्य लोग अधिक कुशलतापूर्वक कर लेते हैं। हमें उनके इन गुणों का अध्ययन, मनन कर उन्हें आत्मसात् करना चाहिए। सम्यक् ज्ञान और यथार्थ चिंतन के समान आचरण के दोषों को दूर करने वाले अन्य कोई साधन नहीं हैं। जहां तक सामाजिक कार्यों का प्रश्न है, हमें न तो गतानुगतिकता का आग्रह करना है, न सुधारवाद का। हमें तो यथार्थ आकलन, सम्यक् अवबोध का आग्रह रखना है। केवल नया दिखाई दिया तो अविवेक से लेना अथवा 'पुराणमित्येव हि साधु सर्वम्' कह कर नए को छोड़ देना—दोनों में आग्रह है। जहां आग्रह हो, वहां सत्य दर्शन नहीं होता। 'बुद्धेः फलम् अनाग्रहः'—अनाग्रह ही बुद्धि का फल है; बुद्धिवादी सदा ही अपनी त्रुटि सुधारने को तत्पर रहता है। वस्तुस्थिति का सम्यक् आकलन होने के पूर्वाग्रह दूषित दृष्टि से काम नहीं चलेगा, कभी एक तो कभी दूसरी ओर आंदोलित होने वाली मन की अस्थिर प्रवृत्ति सहायक नहीं होगी। निर्लेप, पक्षपातरहित, शांतवृत्ति से विचार कर नए-पुराने को तौलकर—जो योग्य हो उसे निर्भयतापूर्वक स्वीकार करने को सिद्ध रहना चाहिए।

—भगिनी निवेदिता

समय के साथ धर्म के ऊपरी रूप बदलते रहते हैं, परंतु उसके मूलतत्त्व अटल हैं। जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है—वह धर्म है; जो काम अपने संकुचित 'स्व' पर केंद्रित रहता है—वह अधर्म है। जिस समाज में कोई जन्मना ऊंचा, कोई जन्मना नीचा माना जाएगा; जिस समाज में योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने का, अपनी सहजात योग्यता को विकसित करने का अवसर न दिया जाएगा और अयोग्य व्यक्ति कुल के आधार पर ऊंचे पद से हटाया न जाएगा, जिस समाज में तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न होगा वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है।

❑ ❑

समाज और धर्म

❑ डॉ. संपूर्णानन्द ❑

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करें तो सभी सुखी और समृद्ध रह सकें, परंतु आज ऐसा नहीं हो रहा है। धर्म का स्थान गौणातिगौण हो गया है, इसलिए सुख और समृद्धि भी गूलर का फूल हो गई हैं। यदि एक सुखी और संपन्न है तो पचास दुखी और दरिद्र हैं। साधनों की कमी नहीं है, परंतु धर्म-बुद्धि के विकसित न होने से उनका उपयोग नहीं हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्सु प्रकृति के प्राणी तो स्यात् समाज में सभी कालों में रहे हैं और रहेंगे, परंतु आजकल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने का खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सफलता दूसरों को उनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर जो लोग सचमुच सदाचारी हैं, उनके मार्ग में पदे-पदे अड़चनें पड़ती हैं।

मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मोक्ष है, परंतु समाज किसी में हठात् आत्म-साक्षात्कार की इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकता। न कोई योगी बनने के लिए विवश किया जा सकता है। न ब्रह्मविवित्सुओं के लिए सार्वजनिक पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। बलात् कोई धर्मात्मा भी नहीं बनाया जा सकता। परंतु समाज का संव्यूहन ऐसा हो सकता है कि सबके सामने आत्म-ज्ञान और अभेद-दर्शन का आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का मूलमंत्र प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओं के विकास का अवसर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था हो तो धर्म को स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षा को अनुकूल वातावरण मिल जाएगा। इसके साथ ही यह बात भी आप ही हो जाएगी कि जिन लोगों की धर्म-बुद्धि अभी उद्‌बुद्ध नहीं है, वे समाज की बहुत क्षति न कर सकें।

मनुष्य ने अपने को इतने टुकड़ों में बांट लिया है कि एकता को कहीं आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े हैं उतने ही पृथक् हित हैं और इन हितों की सिद्धि पार्थक्य को उतना ही बढ़ाती है।

उदाहरण के लिए उस टुकड़े को लीजिए जिसको राष्ट्र कहते हैं। हमने अपने को राष्ट्रों में बांट रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपने को स्वतंत्र, प्रभुराज के रूप में संव्यूढ़ देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते हैं, एक ही संस्कृति के उपासक हैं, एक को दूसरे से कोई द्वेष नहीं है, फिर भी विभिन्न राष्ट्रों के सदस्य होने के कारण उनके हित टकराते हैं। एक को दूसरे से लड़ना पड़ता है, एक को दूसरे के बाल-बच्चों को भूखों मारना पड़ता है। व्यक्ति को दास बनाना बुरा समझा जाता है, परंतु समूचे राष्ट्र को दास बनाना, समूचे राष्ट्र के जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना, समूचे राष्ट्र का शोषण करना बुरा नहीं है। बलात् दूसरे के घर का प्रबंध नहीं किया जा सकता, परंतु बलात् दूसरे राष्ट्र पर शासन किया जा सकता है। राष्ट्रों और राज्यों के परस्पर व्यवहार में सत्य, अहिंसा और सहिष्णुता को स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति की एक पाई दबा लेना बुरा समझता है वह राजपुरुष के पद से दूसरे राष्ट्र का गला घोंट देना निन्द्य नहीं मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुंब में व्यक्ति होते हैं, समाज में राष्ट्र इसी प्रकार रहें। कुछ बातों में अपना अलग जीवन भी बिताएं, परंतु सारे मानव-समाज की एकता सतत सामने रहनी चाहिए। युद्ध और कलह का युग समाप्त होना चाहिए; जो राष्ट्र दूसरे की

ओर कुदृष्टि से देखे, वह राष्ट्र-समुदाय से बहिष्कृत और दंडित होना चाहिए। न्याय और सत्य सामूहिक आचरण के आधार बनाए जा सकते हैं।

मानव-संस्कृति एक और अविभाज्य है; योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी चाहे किसी देश के निवासी हों, मनुष्य-समाज मात्र की विभूति हैं। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिए। प्रकृति ने जो भोग्य-सामग्री प्रदान की है, उसे भी मनुष्य मात्र के उपभोग का साधन मानना उचित है। जब तक मनुष्य अपने देश के बाहर अजनबी समझा जाएगा, जब तक वसुंधरा बलवानों की संपत्ति समझी जाएगी, जब तक किसी देश को यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशों की आवश्यकता की पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तों पर—तब तक मनुष्य-समाज सुखी नहीं हो सकता।

जो नियम अंतरराष्ट्रीय जीवन के लिए उपयुक्त है, वही राष्ट्र के भीतर के लिए भी लागू होता है। यह समाज-शास्त्र, राजनीति या अर्थशास्त्र की पुस्तक नहीं है, परंतु दो-चार बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

राष्ट्र का भीतरी संव्यूहन ऐसा होना चाहिए, जिसमें प्रत्येक मनुष्य को धर्माविरुद्ध अर्थ और काम की निर्बाध प्राप्ति हो सके। यह तभी हो सकता है, जब समाज का संघटन धर्ममूलक हो। समय के साथ धर्म के ऊपरी रूप बदलते रहते हैं, परंतु उसके मूलतत्त्व अटल हैं। जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है—वह धर्म है; जो काम अपने संकुचित 'स्व' पर केंद्रित रहता है—वह अधर्म है। जिस समाज में कोई जन्मना ऊंचा, कोई जन्मना नीचा माना जाएगा; जिस समाज में योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने का, अपनी सहजात योग्यता को विकसित करने का अवसर न दिया जाएगा और अयोग्य व्यक्ति कुल के आधार पर ऊंचे पद से हटाया न जाएगा, जिस समाज में तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न होगा वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े-से व्यक्तियों को समाज की धनजन-शक्ति को यथेच्छ लगाने का अधिकार होता है, जिस समाज में शासितों को अपने शासकों की आलोचना करने और उनके काम से असंतुष्ट होने पर उनको हटाने का अधिकार नहीं होता, जिस समाज में शासकों के ऊपर तपस्वी विद्वानों, ब्राह्मणों का अकुंश नहीं होता, जिस समाज में शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासना पर शासकों का नियंत्रण होता है—वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े-से मनुष्य धनवान् और शेष निर्धन हैं, जिस समाज में भोज्य पदार्थों के उत्पादन के मूल साधनों—अर्थात् भूमि, खनिजों और यंत्रों पर कुछ व्यक्तियों का स्वत्व है, जिस समाज में मनुष्य का शोषण वैध है, जिस समाज में प्रतिस्पर्धियों को नीचे गिराना ही उन्नति का साधन है, जिस समाज में बहुतों की जीविका थोड़ों के हाथ में है—वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है।

यह कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन काल में, आज से कई सहस्र या कई सौ वर्ष पूर्व इनमें से कई बातें उचित समझी जाती थीं और बड़े-बड़े विद्वानों ने इनका समर्थन किया था। जैसा ऊपर कहा गया है—धर्म का सिद्धांत अटल है, परंतु देश-काल-पात्र भेद से उसके विनियोग में भेद होता रहता है। पुराकाल के ब्राह्मणों ने अपने समय के लिए चाहे जो व्यवस्था की हो, परंतु हम को इस समय को देखना है। व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गांधी का नाम तर्क का स्थान नहीं ले सकता।

बस, धर्माधर्म की एक ही परख है : यह काम भेदभाव को कम करता है या बढ़ाता है? लोगों को एक-दूसरे से मिलाता है या उनमें संघर्ष उत्पन्न करता है? जहां कुछ लोगों को केवल अधिकार और कुछ को केवल कर्तव्य बांटे जायेंगे, जहां शिक्षक, पंडित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियों और श्रीमानों के उपजीवी होंगे, जहां पुरोहित का लक्ष्य केवल यजमान से धन प्राप्त करना होगा, जहां संपन्नों के दरबारी व्यासपीठ से दुर्बलों और दलितों को शांति और संतोष का पाठ पढ़ाने में इतिकर्तव्यता समझेंगे—वहां कदापि समता, सद्भाव, सहयोग, एकता नहीं रह सकती। वहां वैषम्य की आग प्रत्येक दुखी हृदय में दहकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रांति की लपट न केवल समाज की बुराई, वरन् भलाई को भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग इसको बचाना चाहते हैं, उनका कर्तव्य है कि अन्याय, शोषण, प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवंचन का निरंतर विरोध करें और मनुष्य-मनुष्य में, प्राणी-प्राणी में, सद्भाव और शांति स्थापित करने का यत्न करें।

ऐसे वातावरण में ही ऊंची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते हैं; ऐसी परिस्थिति में ही धर्म का अभ्यास निर्बाध और परिपूर्ण हो सकता है। ऐसे समाज में ही आत्म-साक्षात्कार के इच्छुकों को सुयोग मिलता है। समाज किसी को ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकता, परंतु मनुष्य को मनुष्य की भांति रहने का अवसर दे सकता है। उसका यही धर्म है। ❖

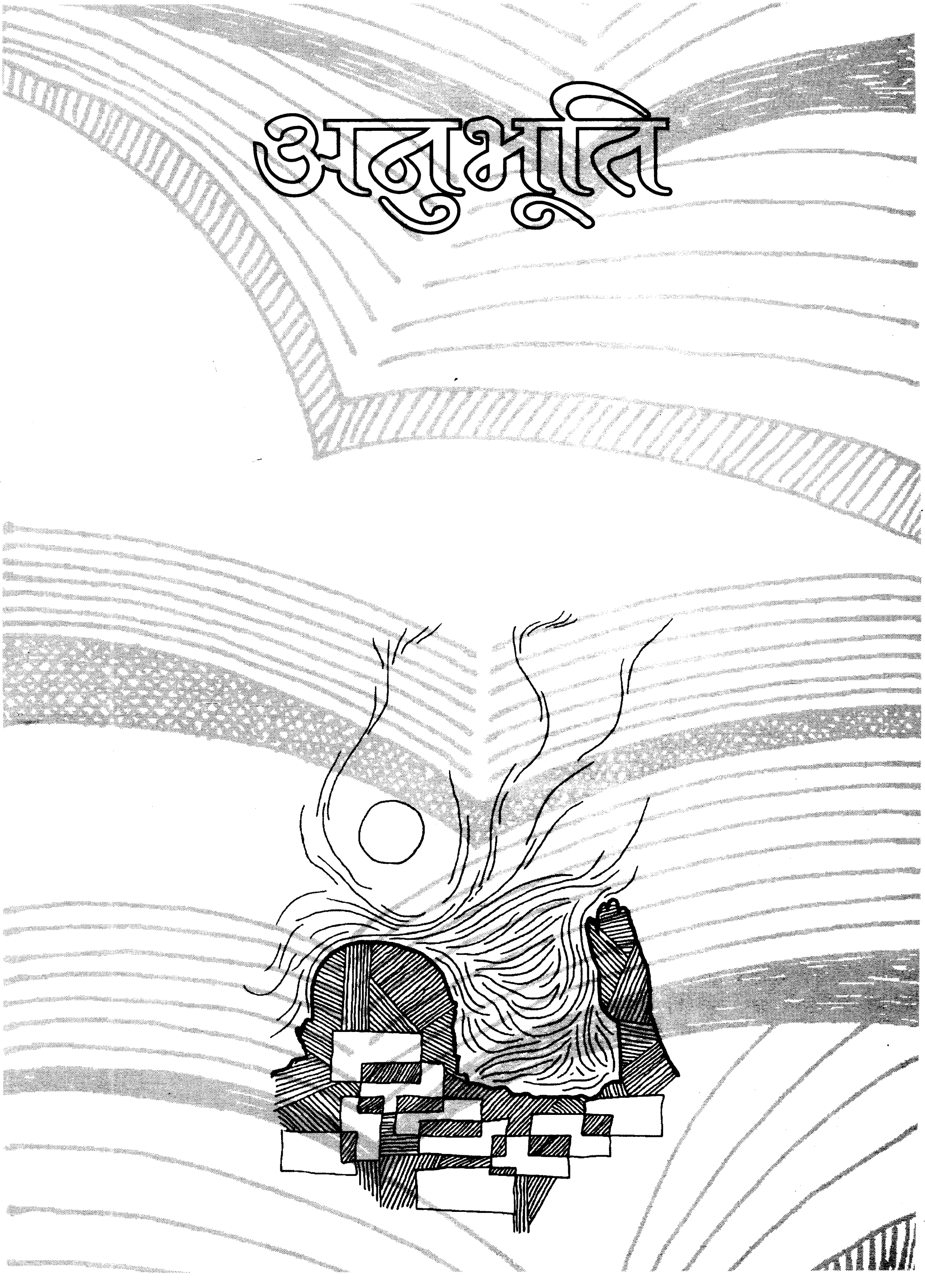
अनुभूति

हम सांस्कृतिक अस्मिता की बात कितनी ही करें; परंपराओं का अवमूल्यन हुआ है, आस्थाओं का क्षरण हुआ है। कड़वा सच तो यह है—हम बौद्धिक दासता स्वीकार कर रहे हैं, पश्चिम के सांस्कृतिक उपनिवेश बन रहे हैं। हमारी नई संस्कृति अनुकरण की संस्कृति है। हम आधुनिकता के झूठे प्रतिमान अपनाते जा रहे हैं, प्रतिष्ठा की अंधी प्रतिस्पर्धा में जो अपना है—उसे खोकर छद्म आधुनिकता की गिरफ्त में आते जा रहे हैं। संस्कृति की नियंत्रण शक्तियों के क्षीण हो जाने के कारण हम दिग्भ्रमित हो रहे हैं। हमारा समाज ही अन्य निर्देशित होता जा रहा है। विज्ञापन और प्रसार के सूक्ष्म तंत्र हमारी मानसिकता बदल रहे हैं। उनमें सम्मोहन की शक्ति है, वशीकरण की भी।

—**श्यामाचरण दुबे**

अनुश्रुति है कि उस दिन स्वामीजी आदि सभी संतों के तेले की तपस्या थी। सायंकाल चातुर्मासिक पाक्षिक प्रतिक्रमण करने से पूर्व, रात्रि के प्रारंभकाल में सादे सात बजे के लगभग स्वामीजी और उनके सहवर्ती साधु सम्मिलित होकर पूर्व-दिशि ईशान कोण के अभिमुख बैठे। अरिहंत भगवान की आज्ञा लेकर तथा सिद्धों के साक्ष्य से सर्वप्रथम स्वामीजी ने मेघ-मंद्र स्वर से सामायिक-सूत्र का उच्चारण करते हुए सामायिक-चारित्र ग्रहण किया। तत्रस्थ अन्य साधुओं ने भी स्वामीजी द्वारा उच्चारित सामायिक-पाठ के द्वारा चारित्र ग्रहण किया। तेरापंथ की वास्तविक स्थापना स्वामीजी के भाव-संयम ग्रहण करने के साथ उसी दिन हुई।

❑ ❑

तेरापंथ का उदय

❑ *मुनि बुद्धमल्ल* ❑

तेरापंथ का उदय सूर्योदय से उपमित किया जा सकता है। इसी तरह स्वामी भीखणजी का भाव-दीक्षा से पूर्ववर्ती काल उषःकाल कहा जा सकता है। उषःकाल जागरण का समय होता है और अंधकार का स्थान प्रकाश लेने लगता है। रामनवमी से आषाढ़-पूर्णिमा तक सवा तीन महीनों की अवधि में स्वामी भीखणजी ने जन-जागृति के साँथ-साथ सम्यक्त्व का जो प्रकाश फैलाया, वह उपरोक्त कथन का यथार्थ है। उन दिनों में स्वामीजी तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट साध्वाचार जन-साधारण में चर्चा के विषय थे।

स्वामीजी बीलाड़ा से विहार कर कांठा क्षेत्र के विभिन्न ग्रामों का स्पर्श करते हुए मेवाड़ की ओर बढ़ रहे थे। सहवर्ती साधुओं के साथ सैद्धांतिक चर्चाओं का क्रम चालू था। आगमों के मंथन और मनन से जो तत्त्व-नवनीत स्वामीजी ने निकाला, उसका आस्वाद सभी के लिए शक्तिदायक बन रहा था। विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान से श्रद्धा और आचार-विषयक मंतव्य हृदयंगम करने में सभी मुनि पूर्णरूप से जुटे हुए थे।

> इतिहास को जानना और समझना अपने वर्तमान और भविष्य को संवारने व सहेजने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इतिहास का महत्त्व इसलिए भी है कि वह आगे की दिशा के लिए प्रेरक और मार्गदर्शक हो सकता है तो अपनी भूलों से सबक सीखने में भी इतिहास
>
> **दो सौ पैंतालीसवां तेरापंथ स्थापना दिवस (आषाढ़ पूर्णिमा)**
>
> की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती है। इन्हीं बातों को ध्यान में रख, नौजवान पीढ़ी के लिए तेरापंथ के इतिहास का एक मार्मिक पृष्ठ मुनिश्री बुद्धमल्लजी की कलम से। वयोवृद्ध मुनिश्री बुद्धमल्लजी तेरापंथ के इतिहास के मर्मज्ञ अध्येता हैं। जैन भारती के सुधी पाठकों के लिए अवसर-विशेष पर यह आलेख—

जितना बड़ा वह काम था, उसके अनुरूप दिन हाथ में नहीं थे और चतुर्मास निकट आ जाने से कुछ विषयों पर अंतिम रूप से विचार नहीं हो सका था। भीखणजी स्वामी ने तब सभी साधुओं को संबोधित करते हुए कहा था—'चतुर्मास निकट है, इसलिए अवशिष्ट विषयों पर विचार करने का अवकाश नहीं रह गया है। अतः चतुर्मास समाप्त होने पर हम सब फिर मिलेंगे और चर्चा करेंगे। श्रद्धा और आचार मिलने पर ही हम साथ-साथ रहेंगे, अन्यथा नहीं।' इस प्रकार सबको पहले ही समझा दिया गया कि हमारा पारस्परिक संबंध किसी घटना-विशेष या आग्रह-विशेष द्वारा प्रेरित नहीं, अपितु विशुद्ध आचार और विचार के आधार पर अवस्थित है। स्वामीजी ने सब साथियों के लिए चतुर्मास के स्थानों का निर्धारण कर दिया और कह दिया कि आषाढ़-पूर्णिमा के दिन सबको भाव-संयम ग्रहण कर लेना है।

चतुर्मास-काल के अवसर पर व्यवस्था-संबंधी कुछ निर्णय किए गए। स्वामीजी से दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि थिरपालजी और फतेहचंदजी को भाव-दीक्षा के पश्चात् भी ज्येष्ठ ही रखा गया। आचार्य पद पर श्री भिक्षु रहे। उक्त निर्णय किस ग्राम में किए गए, इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। संभवतः बीलाड़ा से विहार करने के पश्चात् मारवाड़ के किसी क्षेत्र में ये निर्णय किए गए। उसके पश्चात् सभी मुनि अपने लिए निर्धारित चतुर्मास-क्षेत्रों की ओर विहार कर गए।

स्वामीजी मारवाड़ से विहार करते हुए मेवाड़ में पधारे। अपने चातुर्मास के लिए उन्होंने केलवा नामक ग्राम को चुना। यह गांव राजनगर से लगभग 11 किलोमीटर दूरी पर है। स्वामीजी वहां आषाढ़ शुक्ला 13 को पहुंचे। यह वर्षा ऋतु का प्रारंभकाल था। पहली बार में ही अच्छी वर्षा हो गई, अतः प्रचुर अन्नोत्पत्ति की संभावना में सभी की आकृतियां हर्षोत्फुल्ल थीं। उत्तापहीन स्वच्छ वातावरण और सुकाल के संकेत स्वामीजी के पदार्पण की सफलता के सूचक और शुभ शकुन माने जाने लगे।

स्वामीजी के साथ उस समय चार साधु और थे— टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी और वीरभाणजी। वीरभाणजी का नाम यद्यपि किसी ग्रंथ में उल्लिखित नहीं है, परंतु 'केलवा में स्वामीजी आदि 5 संत थे'—यह संख्या-निर्धारण उपलब्ध है। तब यही संभावना की जा सकती है कि पांचवें संत वीरभाणजी ही थे। क्योंकि संवत् 1815 के राजनगर-चातुर्मास तथा अभिनिष्क्रमण के समय बगड़ी में वे स्वामीजी के साथ थे। ऐसी स्थिति में अन्य किसी के साथ उनका होना संभव नहीं लगता।

तेरापंथ की शक्ति का रहस्य

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

हमारा धर्मसंघ एक विशाल धर्मसंघ है। बड़ा इसलिए कि वह शक्तिशाली है। मैं आकार को बहुत बड़ा नहीं मानता। बड़ा वह होता है, जो शक्तिशाली होता है। सौभाग्य से हमें शक्ति के मूल तत्त्व मिले हैं। शक्ति के मूल तत्त्व पांच हैं—

अनुशासनबल, सिद्धांतबल, मनोबल, अध्यात्मबल, समाधानबल।

अनुशासनबल

पहला तत्त्व है—मर्यादा या अनुशासन। जिस संघ को अनुशासन-बल प्राप्त होता है, वह शक्तिशाली होता है। जिसे यह प्राप्त नहीं होता, आकार में भले ही वह आकाश को नाप ले, बड़ा नहीं कहा जाएगा।

सिद्धांतबल

दूसरा तत्त्व है सिद्धांतबल। आचार्य भिक्षु ने सौभाग्य से हमें सिद्धांत-बल दिया है। तेरापंथ की स्थापना कोई हवाई स्थापना नहीं है। अनुशासन-भी चल रहा है तो हवाई किलों से नहीं चल रहा है। मैं बिना किसी अहंकार और गर्वोक्ति से कहना चाहूंगा कि तेरापंथ को जितनी सिद्धांतभूमि, आधारभूमि प्राप्त है—शायद किसी और को प्राप्त नहीं है। आचार्य भिक्षु ने अनेक ग्रंथ लिखे—अहिंसा की चौपई, व्रताव्रत की चौपई, निक्षेप की चौपई। हर दृष्टि से उन्होंने सिद्धांत पर बहुत बल दिया और नींव ऐसी मजबूत कर दी है कि उसके आधार पर अनगिनत मंजिलों वाला मकान खड़ा किया जा सकता है। जहां सिद्धांत का बल, चिंतन का बल नहीं होता, समस्या उलझ जाती है। जिसके पीछे कोई चिंतन नहीं होता, कोई सिद्धांत नहीं होता, कोई कसौटी नहीं होती, कोई मानदंड नहीं होता, उसके सामने समस्या-ही-समस्या दिखाई देती है, कोई काम वह नहीं कर पाता।

मनोबल

तीसरा तत्त्व है मनोबल। सौभाग्य से यह भी हमें प्राप्त है। मनोबल की एक लंबी परंपरा और एक लंबा इतिहास रहा है—हमारे धर्मसंघ में। थोड़े में कहूं तो अब तक हमारे धर्मसंघ का जितना विकास हुआ है, वह मनोबल के ही आधार पर हुआ है। सब अवरोधों, धमकियों और चुनौतियों के बीच हमारी यात्रा चली है। मनोबल हमारा इतना प्रबल था कि रतलाम में हमारे एक मुनि वेणीरामजी को एक दिन में नौ स्थान बदलने पड़े थे, किंतु मनोबल डिगा नहीं। धन्य हैं हमारे वे साधु-साध्वियां, जिन्होंने हमारे धर्मसंघ के इस मनोबल को बनाए रखा। आज भी न जाने कितनी और कैसी-कैसी समस्याएं आती हैं, किंतु मनोबल के सहारे पार हो जाती है।

→

केलवा पहुंचने से पूर्व ही वहां विरोधियों द्वारा स्वामीजी के विरुद्ध प्रचार प्रारंभ किया जा चुका था। अनेक अपवाद और भ्रांतियां फैलाई गईं। सामाजिक स्तर पर उनका पूर्ण बहिष्कार करने के लिए श्रीसंघ की ओर से अनेक आज्ञाएं प्रचारित की गईं। स्थानीय जनता के मन में उनके प्रति घृणा और भय का वातावरण इस रूप में बनाया गया कि जब वे वहां पहुंचे तो उन्हें कोई स्थान देने वाला भी नहीं मिला।

स्थान की गवेषणा करने में स्वामीजी को काफी परिश्रम और पूछताछ करनी पड़ी। आखिर ग्राम के कुछ व्यक्तियों ने परामर्श करके एक स्थान देने का निर्णय किया। वह स्थान था स्थानीय जैन मंदिर की एक अंधेरी कोठरी। उसमें न हवा का प्रवेश था और न प्रकाश का। मानो वह कोठरी स्वयं स्वामीजी से ताजा हवा और प्रकाश प्राप्त करने की प्रतीक्षा में सदियों तक मौन व एकाकी साधनारत खड़ी थी। लोग स्थानीय बोली में उसे 'अंधेरी-ओरी' कहा करते थे। यह भी संभव है कि उसका यह गुणानुसारी नाम स्वामीजी के उस चातुर्मास-काल में ही प्रचलित हुआ हो।

यद्यपि अब वहां काफी परिवर्तन कर दिया गया है। अब न पहले जैसा अंधकार ही है और न निर्वातता। स्वामीजी के समय में तो वहां इन दोनों का ही साम्राज्य था। वर्षों पूर्व से वह शून्य और उपेक्षित स्थान रहता आया था, अतः भयप्रद भी हो गया था। लोग दिन में भी वहां जाने से सकुचाते थे। रात्रि में तो भूलकर भी कोई उधर नहीं जाता। जनता में यह अनुश्रुति प्रचलित थी कि वह स्थान भूत-प्रेत आदि अदृश्य शक्तियों द्वारा गृहीत है। अतः रात्रि में जो भी वहां रहेगा, वह प्रातःकाल तक

अध्यात्मबल

चौथा तत्त्व है—अध्यात्मबल। जिस संघ को अध्यात्म का बल प्राप्त नहीं होता, वह कभी बड़ा नहीं बन सकता।. हमारा धर्मसंघ अध्यात्म की दृष्टि से आज विश्व के किसी भी धर्मसंघ से कम नहीं। अलबत्ता बड़ा कहूं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। हमें याद है दिल्ली का एक प्रसंग। एक दिन आचार्य कृपलानी, हरिभाऊ उपाध्याय, जैनेंद्रकुमारजी आदि अनेक लोग आए, बोले—'आचार्यश्री! आज हम आपसे एक नई बात करने आए हैं।' गुरुदेव ने उन्हें कहने की अनुमति प्रदान की। मैं पास ही बैठा था। वे बोले—'अणुशक्ति से संत्रस्त इस विश्व को आज अणुव्रत की सबसे ज्यादा जरूरत है और आप अध्यात्म का नेतृत्व करने में हमें सबसे सक्षम व्यक्ति दिखाई देते हैं। हमारी प्रार्थना है कि आप अपने इस संप्रदाय के भार को किसी दूसरे को सौंप दें और पूरे विश्व के लिए अध्यात्म का नेतृत्व करें।'

हमें अध्यात्म का बल मिला है। जहां यह बल नहीं होता है, धर्म के नाम पर झूठा प्रलोभन और आश्वासन मिलता है—वहां विडंबनाएं पनपती हैं, विकास नहीं होता। आज तेरापंथ धर्मसंघ अध्यात्म के उस शिखर पर है, जहां से निकला हुआ शब्द विश्व में गुंजायमान होता है। इस प्रसंग में याद आ रहे हैं श्रीमन्नारायण के शब्द। महरौली के अध्यात्म साधना केंद्र में इक्कीस दिन के शिविर के दौरान उन्होंने कहा था—'इस (तेरापंथ) मंच से जो भी बात निकलेगी, मेरा विश्वास है कि वह पूरे विश्व को प्रभावित करेगी। सारा संसार उसे सिर झुकाकर स्वीकार करेगा।'

समाधान का बल

पांचवां बल है—युग की समस्या को समाधान देने का बल। हमारे पास यह बल न होता तो हमारी आवाज कोई न सुनता। मैं मानता हूं कि जो धर्मगुरु युग की समस्या को नहीं जानता, जानता है और उसको समाधान नहीं दे पाता, युग की नब्ज को नहीं पहचान पाता—वह कभी शक्तिशाली नहीं हो सकता।

हमारी परंपरा में आचार्य बहुत हुए हैं। उनमें दो परंपराएं प्रसिद्ध रही हैं—वाचक परंपरा और युगप्रधान परंपरा। वाचक परंपरा के महान आचार्य थे उमास्वाति आदि। युगप्रधान वह होता है, जो युग की भाषा को समझता है और उसकी समस्याओं का निदान करता है। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने युगप्रधान की इस परिभाषा को अपने कर्तृत्व से सार्थक किया है।

अनुशासनबल, सिद्धांतबल, मनोबल, अध्यात्मबल और युग की समस्या को समाधान देने का बल—ये पांच बल जिसके पास हैं, वह शक्तिशाली है। तेरापंथ को ये पांचों बल मिले हैं। वह इस अर्थ में शक्तिशाली है। हमें सिर्फ एक काम करना है कि कोरी यात्रा नहीं करनी है। हमें यह चिंतन करना है कि धर्मसंघ को और अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए स्वयं का किस प्रकार नियोजन करें। ❖

बचकर बाहर नहीं आ पाएगा। उसी अनुश्रुति के आधार पर किसी दुरभिसंधि से प्रेरित होकर लोगों ने स्वामीजी को वह स्थान देने की बात सोची। सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे—इस कहावत को वे चरितार्थ करना चाहते थे। स्वामीजी को स्थान बताते हुए उन लोगों ने कहा—'हमारे पास तो यही एक स्थान है, रहने-न-रहने के विषय में आप स्वयं सोच लें।'

स्वामीजी के सामने न रहने का तो कोई कारण ही नहीं था। वे निर्णयपूर्वक ही वहां आए थे। चातुर्मास करना ही था। स्थान की प्रतिकूलता भला उन्हें क्या प्रभावित करती? कुछ समय पूर्व वे श्मशान-भूमि में भी ठहर चुके थे। अन्य कोई स्थान न भी मिले, पर वह स्थान तो प्रायः हर ग्राम में मिल ही सकता है। जबकि वहां तो उन्हें एक मंदिर में स्थान मिल रहा था। वह चाहे कैसा भी क्यों न हो, श्मशान-भूमि से तो ठीक ही था। स्वामीजी अभाव में से भी भाव को निचोड़ लेने वाले व्यक्ति थे। किसी प्रकार के अभाव का उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने उस स्थान को तत्काल स्वीकार कर लिया और वहां ठहर गए। गृहस्थ-वर्ग भी निश्चिंत हुआ कि चलो, बला टली।

वहां हर कोई स्वामीजी का विरोधी था। न कोई उनकी चर्या की चिंता करने वाला था और न अन्य आवश्यक सुविधाओं की। दूसरी ओर आत्मबली स्वामीजी और उनके संत निरपेक्ष भाव वाले थे। वे सब दिनभर स्वाध्याय, अध्ययन तथा मनन आदि में निमग्न रहते। ऐसे कार्यों के लिए एकांतता की अपेक्षा रहा करती है। उन सबको वह परिपूर्णता से प्राप्त हुई। दिनभर में कोई एक व्यक्ति भी सत्संग अथवा धर्म-चर्चा के लिए वहां नहीं आया। संत जनों ने दैनिक चर्या के अपने सभी कार्य बिना किसी व्याघात के सानंद संपन्न किए।

पहले दिन की ही बात है। सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् मुनि भारमलजी परिष्ठापन के लिए मंदिर से बाहर गए। जब वे वापस आ रहे थे, तब द्वार के सामने ही एक सर्प ने उनके पैरों को अपनी कुंडली में जकड़ लिया। चौदह वर्ष का यह बाल साधु फिर भी घबराया नहीं। हल्ला भी नहीं मचाया। वहीं पर स्थिर खड़ा रह गया।

स्वामीजी ने उन्हें बाहर 'अच्छाया' में खड़ा देखा, तो वहीं से पुकार कर कहा—'भारमल! अंदर आ जाओ, बाहर क्यों खड़े हो?'

मुनि भारमलजी बोले—'गुरुदेव! सर्प-जाति के जीव ने पैरों में आंटे दे रखे हैं, कैसे आऊं?'

परिस्थिति की विकटता को भांपते हुए स्वामीजी तत्काल वहां आए और 'नमस्कार-मंत्र' का उच्चारण कर कहने लगे—'आर्य! यदि तुम कोई देव हो और यहां तुम्हारा कोई स्थान है तथा तुम यह चाहते हो कि हम यहां न रहें, तो हमें स्पष्ट बतला दो। तुम्हारी आज्ञा के बिना हम यहां रहना ही नहीं चाहेंगे, पर इस तरह का उपसर्ग करना तो बिल्कुल उपयुक्त नहीं है।'

स्वामीजी के उन शब्दों के साथ ही सर्प वहां से हट गया। वे भी मुनि भारमलजी को साथ लेकर अंदर आ गए।

स्वामीजी को लगा कि इस स्थान के विषय में लोगों में जो भय की भावना बनी हुई है, वह बिल्कुल निष्कारण नहीं है। उस प्रथम रात्रि में उन्हें विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्य सब साधुओं के सो जाने पर भी स्वामीजी धर्म-जागरण और अपनी साधना में लगे रहे।

अर्धरात्रि व्यतीत होने के पश्चात् मंदिर में प्रवेश-द्वार की ओर से कोई श्वेत वस्त्रधारी व्यक्ति अंदर आता हुआ स्वामीजी को दिखाई दिया। वह कुछ निकट आया और वंदना कर कहने लगा—'आगे के लिए आपको कोई उपसर्ग नहीं होगा। यहां पर आप सानंद रहिए। दो प्रार्थनाएं हैं—प्रथम यह कि सर्प के द्वारा खींची गई एक रेखा प्रातःकाल आपको देखने को मिलेगी, उसके इस ओर कोई साधु परिष्ठापन न करे। द्वितीय यह कि—गर्भ-गृह के द्वार पर दोनों ओर दो चबूतरियां हैं, उन पर आपके अतिरिक्त अन्य कोई न बैठे।'

स्वामीजी ने उसकी दोनों प्रार्थनाएं 'ठीक है' कहकर स्वीकार कर लीं।

एक क्षण ठहर कर वह व्यक्ति पुनः बोला—'आप मुझे मनुष्य मत समझिएगा।'

स्वामीजी ने कहा—'नहीं, महानुभाव! मैंने तुम्हें मनुष्य नहीं समझा है। मनुष्य तो यहां दिन में भी आने से घबराता है, तब अर्धरात्रि की इस विकट वेला में आने का तो साहस ही भला कौन करेगा?'

उस व्यक्ति ने स्वामीजी को एक बार फिर नमस्कार किया और अंतर्धान हो गया। स्वामीजी ने पूरी रात्रि साधना और धर्म-जागरण में ही व्यतीत की।

प्रातःकाल प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन से निवृत्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सब साधुओं को रात की घटना बतलाई और पूर्वोक्त रेखा को देखकर उसके इस ओर

परिष्ठापन करने तथा चबूतरियों पर बैठने का सबको निषेध कर दिया।

जिन लोगों ने अपनी दुरभिसंधि के आधार पर स्वामीजी को वह स्थान बतलाया था, वे प्रातःकाल होते ही उसका परिणाम देखने की उत्सुकता से वहां आए। उन्होंने देखा कि स्वामीजी तथा उनके सभी संत सानंद हैं। वे बहुत चकित हुए। उनके विचार से वह कोई अघटित घटना थी। उनकी धारणा थी—'आज तक रात्रि में वहां रहकर कोई व्यक्ति जीवित बाहर नहीं निकल पाया।' उन सबको अपनी चाल के विफल हो जाने का बड़ा दुख हुआ। यद्यपि किसी ने भी उस समय अपने दुख को व्यक्त करने के लिए मुख नहीं खोला, परंतु उद्देश्य-पूर्ति की विफलता से उत्पन्न खिन्नता उनकी मुखाकृतियों पर स्पष्ट उभर आई। सबसे बड़ा दुख तो उनको यह था कि स्वामीजी को वहां चातुर्मास करने के लिए स्थान प्राप्त हो गया।

साथ ही साथ वे लोग प्रभावित भी हुए कि उस भय-स्थान में भी निर्भय रहने की स्वामीजी क्षमता रखते हैं। जब उन लोगों को सर्प-संबंधी उपसर्ग का पता लगा, तब तो उन्होंने दांतों तले अंगुली ही दबा ली। मुनि भारमलजी की निर्भीकता और स्वामीजी की सतत जागरूक आत्म-शक्ति का प्रथम परिचय उन लोगों को प्राप्त हुआ। यद्यपि मानसिक स्तर पर उनका विद्वेष शांत नहीं हुआ, फिर भी उस घटना से वह दब अवश्य गया। कुछ व्यक्तियों के लिए यही घटना कालांतर में स्वामीजी के प्रति श्रद्धाशील बनने का हेतु भी बनी।

केलवा में स्वामीजी का प्रथम दिन उपसर्ग-विजय का रहा। द्वितीय दिन चातुर्मासिक चतुर्दशी का और तृतीय दिवस वि. संवत् 1817 की आषाढ़ पूर्णिमा का था। यह दिन भाव-संयम ग्रहण करने के लिए निर्णीत किया गया था। उस दिन एक प्रकार के नए जीवन का प्रारंभ होने जा रहा था। पुराने जीवन के लिए व्युत्सर्ग-भाव और नए जीवन के लिए स्वीकार-भाव से सब साधुओं की मुखाकृति आनंदातिरेक से दमक रही थी। सभी का मन अपूर्व उत्साह से भरा था।

अनुश्रुति है कि उस दिन स्वामीजी आदि सभी संतों के तेले की तपस्या थी। सायंकाल चातुर्मासिक पाक्षिक प्रतिक्रमण करने से पूर्व, रात्रि के प्रारंभकाल में साढ़े सात बजे के लगभग स्वामीजी और उनके सहवर्ती साधु सम्मिलित होकर पूर्व-दिशि ईशान कोण के अभिमुख बैठे। अरिहंत भगवान की आज्ञा लेकर तथा सिद्धों के साक्ष्य से सर्वप्रथम स्वामीजी ने मेघ-मंद्र स्वर से सामायिक-सूत्र का उच्चारण करते हुए सामायिक-चारित्र ग्रहण किया। तत्रस्थ अन्य साधुओं ने भी स्वामीजी द्वारा उच्चारित सामायिक-पाठ के द्वारा चारित्र ग्रहण किया। तेरापंथ की वास्तविक स्थापना स्वामीजी के भावसंयम ग्रहण करने के साथ उसी दिन हुई।

युग-प्रवर्तक स्वामीजी ने नए युग का प्रारंभ करने के लिए जो दिन चुना, वह वस्तुतः जैनागम-सम्मत ऐसा संधि-दिन था कि जहां से काल-परिवर्तन की गणना सदा से की जाती रही है। कालचक्र, अवसर्पिणी काल, उत्सर्पिणी काल, अर तथा संवत्-परिवर्तन के लिए मान्य संधि-दिन, द्रव्य-संयम और भाव-संयम का भी संधि-दिन हो गया।

तेरापंथ का व्यावहारिक स्तर पर नामकरण कुछ दिन पहले जोधपुर में हो ही चुका था, परंतु वैधानिक स्तर पर वह तब हुआ जब स्वामीजी ने उसे अपनी व्याख्या के साथ स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् क्रियान्वयन के स्तर पर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा तब हुई जब भावसंयम ग्रहण किया गया। उसी समय को आधार बनाकर निर्मित की गई तेरापंथ की जन्मकुंडली इस प्रकार है—

वि. सं. 1817 आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा तदनुसार ईस्वी सन् 29 जून, 1760, शनिवार, सायंकाल समय 7.30 इष्टकाल 34-14-37 घटी। स्थान—केलवा (जिला - राजसमंद) राजस्थान

लग्न कुंडली

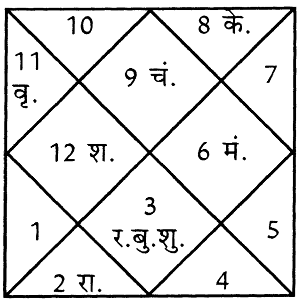

नवांश कुंडली

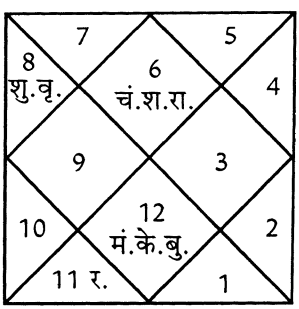

भावसंयम ग्रहण करने के पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा (एकम) को प्रथम गोचरी के लिए स्वयं स्वामीजी पधारे। पहले-पहल वे राजभवन में गए। उस समय वहां के शासक रावल मोखमसिंहजी थे। वे अत्यंत भक्त प्रकृति के व्यक्ति थे। स्वामीजी को पधारते देखा तो बहुत प्रसन्न हुए। रसोईघर तक स्वयं साथ-साथ गए और

चलित कुंडली

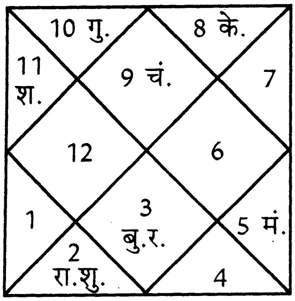

सर्वप्रथम अपने हाथ से पात्र दान देने का लाभ प्राप्त किया। प्रथम दान का वह अवसर राज-परिवार के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ। उसके पश्चात् उस परिवार के सदस्य सत्संगति का लाभ लेने लगे। कालांतर में वे श्रावक के समान भक्त ही बन गए। तब से आज तक उस परिवार की भक्ति और निष्ठा तेरापंथ के प्रति अजस्र चलती आ रही है। वह परिवार स्वयं को आज भी गौरवान्वित अनुभव करता है।

ठाकुर मोखमसिंहजी उस चतुर्मास में अनेक बार स्वामीजी के संपर्क में आए। उनकी धर्म-चर्चा में रुचि थी, और स्वामीजी उसके अगाध समुद्र थे। हर बार वे स्वामीजी से अधिकाधिक प्रभावित होकर गए। आगे के चतुर्मासों में तो उन पर स्वामीजी का ऐसा रंग चढ़ा कि एक दिन भी व्याख्यान में अनुपस्थित रहना उन्हें अखरने लगा। स्वामीजी के प्रति उनकी आस्था अत्यंत दृढ़ हो गई। स्वामीजी के आगमन को वे अपने सौभाग्य का सूचक मानते थे।

मोखमसिंहजी प्रतिदिन व्याख्यान में आया करते थे। एक बार वर्षा के कारण गलियों में बड़ा कीचड़ हो गया। आधे मार्ग तक आने के पश्चात् इतना कीचड़ था कि उसमें पैर रखे बिना आगे बढ़ सकना असंभव था। उनको बड़ी निराशा हुई। वे सोच ही रहे थे कि अब क्या किया जाए? इतने में एक 'छुट-भाई' ने उनकी मानसिक असमंजसता को ताड़ लिया। कीचड़ पर अपनी ढाल रखते हुए वह बोला—'आप इस पर पैर रखकर पधार जाइए।' ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कीचड़ पार करके स्वामीजी के दर्शन किए और व्याख्यान सुना। जब वापस जाने का समय हुआ तब स्वामीजी को वंदन करते हुए उस भाई की ओर संकेत करके कहने लगे—'आज का सत्संग-लाभ तो इस भाई के कारण ही हो सका है।

जैसा कि कहा ही जा चुका है कि केलवा का जैन समाज प्रारंभ में स्वामीजी का कट्टर विरोधी रहा। विद्वेष-वश कुछ लोगों ने उनके विरुद्ध अनेक गलत धारणाएं फैलाईं। फलस्वरूप कुछ दिनों तक लोगों का आगमन अत्यंत विरल रहा। जो आते, वे भी सहृदयता से नहीं, द्वेष-बुद्धि से प्रेरित होकर ही आते। तत्त्व-जिज्ञासा से तो कोई-कोई ही आया करता था। धीरे-धीरे लोगों की द्वेष-बुद्धि में परिवर्तन आने लगा। स्वामीजी की सहिष्णुता और शांत वृत्ति ने उनके द्वेष पर विजय पाई। श्रद्धा के अंकुर फूटने लगे। अनेक समझदार व्यक्ति जिज्ञासा लेकर भी आने लगे और तत्त्व को समझने का प्रयास करने लगे।

चातुर्मास के अंत तक केलवा में अनेक परिवार स्वामीजी के भक्त बन गए। सर्वप्रथम वहां के कोठारी (चोरड़िया) परिवार ने गुरु-धारणा की। उनमें मुख्यतः ये व्यक्ति थे—केलवा ठिकाणे के प्रधान मूणदासजी, सुप्रसिद्ध श्रावक शोभजी के छोटे दादा भैरोजी और केसोजी आदि।

केलवा के चातुर्मास का प्रारंभ परीषहों के साथ हुआ और उसकी संपन्नता अनेक परिवारों के भक्त बन जाने के रूप में हुई। अंधेरी कोठरी पर प्राप्त विजय ने लोगों के हृदय की अंधेरी कोठरी पर भी विजय पाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। कालांतर में तो—राज-परिवार से लेकर साधारण किसान तक—प्रायः सभी व्यक्ति स्वामीजी के प्रति श्रद्धावनत हो गए।

पहले चातुर्मास में जो-कुछ हुआ, वह बीजरूप ही कहा जा सकता है। हर वृक्ष अपने विस्तार-काल से पूर्व एक छोटा-सा बीज ही होता है लेकिन उसके समग्र भाव-विस्तार की संभावना उस नन्हे-से बीज में निहित रहती है। स्वामीजी के उस चातुर्मास में यद्यपि उपकार की अपेक्षा प्रतिकार की बहुलता रही, परंतु संघर्षों पर विजय पाने का क्रम भी वहीं से प्रारंभ हुआ और संघर्षों पर पाई गई हर विजय के मूल में केलवा की सफलता का ही स्वर सुनाई देता रहा है। इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्वामीजी का वह प्रथम चातुर्मास अपनी बीजात्मकता में अत्यंत सफल रहा। ❖

मालूम नहीं कि स्वधर्म क्या होता है, धर्म ही क्या होता है? लेकिन प्रेम से अलग किसी सिद्धांतवादिता को तो धर्म कहते मुझसे नहीं बनता। धर्मों का सार प्रेम है और मैं समझता हूं कि प्रेम में जो उत्सर्ग होता है वह अंत में धर्माचरण ही सिद्ध है।

—जैनेंद्रकुमार

अब तक किसी साधु-संघ के लिए कोई संविधान नहीं बना। तेरापंथ ही ऐसा धर्मसंघ है—जहां संन्यासी-वर्ग के लिए भी संविधान है। आचार्य भिक्षु ने 250 वर्ष पूर्व साधु-संगठनों को टूटते-बिखरते देखकर यह अनुभव किया कि पद, शिष्य और प्रतिष्ठा की भूख साधु को मार्ग से च्युत कर देती है। उन्होंने इन सबको जड़-मूल से उखाड़ने के लिए मर्यादा का निर्माण किया। आचार्य भिक्षु द्वारा रचित सर्व मर्यादाएं एक ओर संगठन को शक्तिशाली बनाती हैं तो दूसरी ओर व्यक्ति को अपनी साधना में गतिशील।

शाश्वत सत्य के अन्वेषक

❑ समणी शारदाप्रज्ञा ❑

सौ वर्षों के बाद जो व्यक्ति पहचाना जाता है वह कम-से-कम हजार वर्ष तक अवश्य जीवित रहता है और दो सौ वर्षों के बाद जो व्यक्ति पहचाना जाता है वह कम-से-कम दो हजार वर्षों तक जीवत रहेगा ही—यह कथन है आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का। वे आगे बताते हैं—'जिसने शाश्वत सत्य को समझा है वह दो हजार वर्ष क्या, बहुत आगे तक चलता रहेगा।' आचार्य भिक्षु एक ऐसे संत हुए हैं जिन्होंने शाश्वत सत्य को समझा, स्वीकारा और उसकी स्थापना के लिए संघर्ष किया। उनके निर्वाण की दो शताब्दियां बीत जाने के बाद भी उनके द्वारा उद्घोषित सत्य विश्वचिंतन को आलोकित कर रहा है।

आचार्य भिक्षु एक महान संत तो थे ही, आध्यात्मिक धारा के प्रखर चिंतक भी थे। उनका दर्शन आज भी अध्यात्म की आधार-भूमि पर खड़ा है। उनका आदर्श है—जिन-वाणी। जैनागमों में प्राप्त सत्यों को उन्होंने तत्समय के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया। जिन-वाणी पर छाए सैद्धांतिक कुहासे का उन्हें जहां-कहीं भी आभास हुआ, वहां-वहां उन्होंने क्रांति के बीज डाल दिए। उनकी विचारक्रांति ने भारतीय चिंतन जगत में अनुपम अवदान के रूप में प्रतिष्ठा हासिल की।

आचार्य भिक्षु निर्वाण द्विशताब्दी वर्ष पर विशेष

उन्होंने क्रांति के लिए क्रांति नहीं की, दर्शन के लिए विचार नहीं दिए, अपितु पूर्वस्थापित मिथ्या अवधारणाओं से बचाकर जनमानस को सार्वभौम सत्य से परिचित कराने का सबल प्रयत्न किया। उनके इस प्रयत्न से सत्य की नव रश्मियां उद्घाटित हुईं। आज इसे भिक्षु-दर्शन अथवा तेरापंथ-दर्शन के रूप में जाना जाता है।

पुण्य बंध स्वतंत्र नहीं होता

आचार्य भिक्षु ने स्पष्ट उद्घोषणा की जहां पुण्यबंध है, वहां निश्चित धर्म है और जहां धर्म है वहां पुण्यबंध होता भी है और नहीं भी होता। इस उद्घोषणा ने धर्म और पुण्य—दोनों के मध्य भेद रेखा खींच दी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की मान्यता है कि—वैदिक साहित्य में धर्म शब्द विधान या प्रथा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और पुण्य शब्द शुभ के अर्थ में। उपनिषदों में धर्म और पुण्य एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यहां धर्म और पुण्य—दोनों कर्मात्मक हैं, बंधनकारक हैं। कालांतर में जब मोक्ष पुरुषार्थ की स्थापना हुई, उसके बाद धर्म और पुण्य की भिन्नता प्रस्थापित हुई। धर्म की स्वीकृति मुक्ति के रूप में एवं पुण्य की स्वीकृति बंध के रूप में।

आचार्य भिक्षु ने पुण्यबंध को धर्म के साथ बांधकर समाज-धर्म पर मोक्ष-धर्म का अंकुश स्थापित कर दिया। मोक्ष-धर्म से अनुप्राणित होकर ही सामाजिक कार्य श्रेष्ठता अर्थात् पुण्यबंध के हेतु बन सकते हैं। यहां नैतिकता और मोक्ष-धर्म का परस्पर संबंध भी चर्चनीय है। मोक्ष-धर्म आत्मा की शुद्धि का साधन है। यह पर-सापेक्ष नहीं। दूसरा है या नहीं, यह विवक्षा भी नहीं। नैतिकता पर-सापेक्ष धर्म है। दूसरे के साथ किया जाने वाला सत्य व्यवहार नैतिकता कहलाता है। नैतिकता धर्म का ही

एक रूप है, जिसमें परस्पर आचार-व्यवहार की मुख्यता है। धर्म का आलंबन प्राप्त कर नैतिकता पुण्यार्जन का हेतु बन सकती है। अन्यथा यह समाजोपयोगी होने पर भी पुण्यार्जन का हेतु नहीं बन सकती। आचार्य भिक्षु का यह अभिमत— 'मोक्ष-धर्म अर्थात् आत्म-धर्म सब कार्यों से उत्तम है'— इस अवधारणा को पुष्ट करता है।

अहिंसा की नई व्याख्या

अहिंसा एक सार्वभौम सिद्धांत है। सभी धर्मों ने अहिंसा को स्वीकार किया है। अहिंसा को अनादिकाल से जीवन शैली का अंग माना जा रहा है। हिंसा नहीं करना, अर्थात् न मारना—अहिंसा का यह रूप प्रसिद्ध है। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा को नए परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया। उनकी अहिंसा की अवधारणा ने उस समय प्रचलित कतिपय अवधारणाओं पर कुठाराघात किया।

आवश्यक हिंसा, हिंसा नहीं है; बहुतों के लिए थोड़ों की हिंसा, हिंसा नहीं है; बड़ों के लिए छोटों की हिंसा, हिंसा नहीं है—आचार्य भिक्षु ने इन विचारधाराओं को न केवल अस्वीकार किया, बल्कि उनका सशक्त विरोध भी किया। उन्होंने कहा—हिंसा किसी भी देश-काल और परिस्थिति में हिंसा ही है। जीवन के लिए सामाजिक भूमिका पर हिंसा आवश्यक हो सकती है, किंतु उसे अहिंसा की संज्ञा नहीं दी जा सकती। न ही उसे धर्म की कोटि में रखा जा सकता है।

आचार्य भिक्षु ने साध्य और साधन—दोनों की शुद्धता को अहिंसा के लिए आवश्यक माना। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होना चाहिए, इस विचार को सैद्धांतिक रूप देने वाले प्रथम व्यक्ति आचार्य भिक्षु ही थे। शुद्ध लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन का शुद्ध होना आवश्यक नहीं— आचार्य भिक्षु के समय भी इस प्रकार की मान्यताएं मौजूद थीं। वे लोग कहते थे—'बाद में बहुत धर्म होगा, इसके लिए हम अभी थोड़ा-सा पाप करते हैं।' आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा—बाद में तो जैसी करणी होगी, वैसा फल मिलेगा। वर्तमान की पापकारी प्रवृत्ति को कभी भी धर्म नहीं माना जा सकता और न ही वह बाद में धर्म का आधार बन सकती है। जो साधन शुद्ध नहीं होते, वे साध्य की शुद्धता को ही नष्ट कर देते हैं।

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। अहिंसा के क्षेत्र में आई तात्कालिक विसंगतियों पर प्रहार करते-करते अनायास ही उन्होंने अहिंसा के स्वरूप को नए आयाम दे दिए।

हृदय परिवर्तन

सामान्यतः यह समझा जाता है कि किसी जीव को मरने से बचाना धर्म है। आचार्य भिक्षु ने दूसरा आयाम दिया। चाहे पापपूर्ण आचरण से ही जीव को बचाया जाए—माना यही जाता था कि ऐसा करना दया है, धर्म है। यह भी मान्यता रही है कि पैसे देकर अथवा भय दिखलाकर जीव को बचाया जा सकता है अथवा किसी व्यक्ति का अनाचार छुड़ाया जा सकता है। आचार्य भिक्षु ऐसी मान्यता के पक्षधर नहीं थे। प्रलोभन, भय अथवा बलप्रयोग से अनाचार छुड़ाना आचार्य भिक्षु की दृष्टि से धर्म अथवा अहिंसा नहीं है। आचार्य भिक्षु ने समझाइश पर बल दिया—**'ए सर्व छोड़ावे समझाये ने'**। समझा-बुझाकर अनाचार से दूर करना—यही अहिंसा का मार्ग है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मनुष्य की प्रवृत्ति के तीन निमित्तों का उल्लेख करते हुए लिखा है—'शक्ति से प्रेरित होकर मनुष्य को कार्य करना पड़ता है; प्रभाव से प्रेरित होकर मनुष्य यह सोचता है कि यह कार्य मुझे करना चाहिए; सहज वृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य यह सोचता है यह कार्य करना मेरा धर्म है।' सहज वृत्ति हृदय की पवित्रता से उपजती है। समझाने पर भी हृदय की वृत्ति का परिवर्तन संभव है। इसे हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत भी कहा जा सकता है। यह सिद्धांत आचार्य भिक्षु की मौलिक सूझबूझ से निष्पन्न है। वर्तमान में जब शक्ति और प्रलोभन से धर्मांतरण जैसे कार्य किए जा रहे हैं, तब इसकी प्रासंगिकता और ज्यादा बढ़ जाती है।

संप्रदायमुक्त सत्य का स्वीकरण

आचार्य भिक्षु ने धर्म को संप्रदाय की परिधि से मुक्त रखा। उनकी मान्यता थी कि कोई भी व्यक्ति तप आदि धार्मिक क्रिया करता है, तो वह भगवान की आज्ञा में है। उस क्रिया से कर्ता को धर्म के साथ-साथ पुण्यबंध भी होता है। उनकी इस मान्यता ने धर्म की अवधारणा को व्यापकता प्रदान की। भारतीय चिंतनधारा में—'मामेकं शरणं व्रजः'—आदि विचार प्रमुखता से अपना स्थान बनाए हुए थे। हमारे संप्रदाय में ही मुक्ति संभव है, अन्यत्र नहीं—इस प्रकार की भ्रांत धारणाएं समाज में व्याप्त थीं। आचार्य भिक्षु की क्रांत-वाणी से ये धारणाएं छिन्न-भिन्न होने लगीं। उन्होंने स्पष्ट कहा—सावद्य कार्य पापपूर्ण है, चाहे कोई जैन करे या अजैन। इसी प्रकार निरवद्य कार्य धर्म है, चाहे वह जैन के द्वारा हो या अजैनों के द्वारा। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी अपने पवित्र आचरण द्वारा मोक्ष की ओर गति कर

सकता है। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात कर आचार्य भिक्षु की इस मान्यता को क्रियान्वित कर दिया। जैन परंपरा के अनुसार श्रावक को सम्यकत्वी होना आवश्यक है। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह सम्यक् दृष्टि की शर्त से मुक्त है। इस प्रकार आचार्य भिक्षु की यह विचारधारा व्यवहार में उतरकर मानव मात्र को धर्म का अधिकार प्रदान करती है।

धर्म के नए स्वरूप की स्थापना

धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं—स्वभाव, कर्तव्य, दायित्व, परंपरा आदि। धर्म को परिभाषित करते हुए अध्यात्म के चिंतकों ने कहा—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः'—अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती है—वह धर्म है। समय के साथ धर्म की परिभाषा और स्वरूप में परिवर्तन आने लगा। आचार्य भिक्षु के समय तक आते-आते धर्म अपना मूल स्वरूप खो चुका था। आत्म-धर्म और समाज-धर्म में कोई भेदरेखा नहीं रही। वेशधारियों का बोलबाला हो गया। पंचम आरा, कलिकाल, शरीर एवं मन की दुर्बलता आदि का बहाना बनाकर शुद्ध साधुत्व का पालन असंभव घोषित किया जा रहा था। त्याग एवं व्रत की प्रतिष्ठा कम हो रही थी। शास्त्रों में उल्लिखित आचार का सम्यक् पालन नहीं हो रहा था। भगवान की आज्ञा के बाहर भी धर्म माना जा रहा था।

आचार्य भिक्षु ने धर्म को पुनः कसौटी पर चढ़ाया। धर्म के नए स्वरूप का निर्धारण किया। उन्होंने कहा—

त्याग धर्म है, भोग धर्म नहीं है।

व्रत धर्म है, अव्रत धर्म नहीं है।

आज्ञा धर्म है, अनाज्ञा धर्म नहीं है।

उपदेश धर्म है, बल-प्रयोग धर्म नहीं है।

धर्म अनमोल है, वह मूल्य से प्राप्त नहीं होता।

धर्म के इस मार्ग पर वे आजीवन चलते रहे। आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो यह स्वरूप बताया, वह धर्म की आत्मा को अभिव्यक्त करता है तथा धर्म के क्षेत्र में आई विकृतियों को दूर हटाकर धर्म के जाज्वल्यमान रूप को प्रदर्शित करता है।

निरवद्य दान की प्रतिष्ठा

दान शब्द देने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। देना भारतीय जीवन-व्यवहार का अभिन्न अंग रहा है। उसकी पवित्रता और अपवित्रता का चिंतन आचार्य भिक्षु का मौलिक अवदान है। अध्यात्म के क्षेत्र में आचार्य भिक्षु ने शुद्ध दान की मीमांसा की। उसका आधार तीन बिंदु बनते हैं—

1. व्यक्ति—जिसे दिया जा रहा है, वह संयमी हो।

2. वस्तु शुद्ध हो, अर्थात् एषणा के दोषों से रहित हो।

3. देने की वृत्ति भी शुद्ध हो।

इस कसौटी पर खरा उतरने वाला दान धर्मदान (पवित्रदान) और किसी एक भी बिंदु पर खरा नहीं उतरने वाला दान लौकिक दान है। धर्मदान का परिणाम मोक्ष है। लौकिक दान का परिणाम समाज-व्यवस्था आदि हो सकते हैं।

आचार्य भिक्षु ने इन दोनों के बीच स्पष्ट भेदरेखा खींच दी। उनकी नजर ने समाज-व्यवस्था और मोक्षधर्म का घालमेल घी में तम्बाकू मिलाने के समान था। दोनों अपनी-अपनी जगह उपयोगी हैं, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु दोनों की उपयोगिता का क्षेत्र भिन्न है, दोनों के परिणाम भिन्न हैं—इसलिए दोनों को मिलाया नहीं जा सकता। आचार्य भिक्षु की इस मान्यता ने धन और धर्म—दोनों को दूर स्थापित कर दिया। 'धन से धर्म हो सकता है'—जो व्यक्ति इस अवधारणा को पोषण दे रहे थे, उन्हें इससे झटका लगा। धर्म के नाम पर धन ऐंठने वालों के स्वार्थों पर भी करारी चोट हुई। आचार्य भिक्षु ने उन लोगों की ओर से उठने वाले विरोधी स्वरों की परवाह नहीं की। सत्य के मार्ग पर अटल चलते रहे।

साधु-संघ का संविधान

अब तक किसी साधु-संघ के लिए कोई संविधान नहीं बना। तेरापंथ ही ऐसा धर्मसंघ है—जहां संन्यासी-वर्ग के लिए भी संविधान है। आचार्य भिक्षु ने 250 वर्ष पूर्व साधु-संगठनों को टूटते-बिखरते देखकर यह अनुभव किया कि पद, शिष्य और प्रतिष्ठा की भूख साधु को मार्ग से च्युत कर देती है। उन्होंने इन सबको जड़-मूल से उखाड़ने के लिए मर्यादा का निर्माण किया। आचार्य भिक्षु द्वारा रचित सर्व मर्यादाएं एक ओर संगठन को शक्तिशाली बनाती हैं तो दूसरी ओर व्यक्ति को अपनी साधना में गतिशील।

आचार्य भिक्षु ने समय-समय पर कई धाराएं लिखीं। सबसे पहली धारा वि. संवत 1832 में लिखी और अंतिम धारा 1859 में लिखी। इन धाराओं को 'लिखत' कहा जाता है। ये सभी 'लिखत' मिलकर तेरापंथ का संविधान

शेष पृष्ठ 51 पर

में कुछ चकित होकर विनयशंकरजी को ताकता रह गया। यह सब उन्होंने क्यों कहा? इतनी लंबी-चौड़ी सफाई वे मेरे आगे क्यों दे रहे हैं? तभी और भी तीखे और तीव्र स्वर में उन्होंने कहना शुरू किया, 'शादी हो गई। अरे भई, जब तक शादी नहीं हुई, तब तक तो समझ में आता है कि शोध-बोध करना है, तो करती रहे लड़की, और क्या करेगी नहीं तो ससुरी? अब शादीशुदा लड़की का क्या शोध-फोद बताइए। इन्होंने शोध कर डाला। ऐसा शोध किया साहब कि इनके यही पति देवता—राजेंद्रजी—शोध-प्रबंध की टाइप की हुई चार प्रतियां अचानक हमारे सामने लाकर पटक देते हैं और धमकाते हुए कहते हैं—'करते हैं आप दस्तखत कि नहीं?—जबरदस्ती दस्तखत लेलिए।'

❑ कहानी ❑

वायवा

❑ राधावल्लभ ❑

यात्रा का मन नहीं होता। यात्रा करने का अर्थ है बंधी-बंधाई आराम की जिंदगी में खलल। मैं ठहरा मध्यवर्ग का सुविधाभोगी मनुष्य। फिर भी यात्राएं करनी ही पड़ती हैं, जैसे-तैसे। जैसे यह यात्रा। यह यात्रा 'वायवा' लेने के लिए कर रहा हूं। पी-एच. डी. की डिग्री के लिए जो मौखिक परीक्षा होती है, उस को वायवा कहते हैं।

जिस शहर में पहुंचूंगा, वहां भी मेरे शहर की तरह का एक विश्वविद्यालय है। मेरे शहर का विश्वविद्यालय जिस तरह पी-एच. डी. की डिग्रियां बांटता है, वैसे ही यह विश्वविद्यालय भी। बल्कि कहना चाहिए खुले हाथ बांटता है। हर पी-एच. डी. डिग्री के बंटने से पहले उसका वायवा तो होता ही है और वायवा लेने के लिए हम जैसे लोगों को जहां-तहां यात्राएं करनी होती हैं।

यह वायवा किसी महिला या किसी कन्या का है। जिसका है, उसका नाम मुझे याद नहीं। उसका नाम उस की थीसिस के मुखपृष्ठ पर छपा हुआ है। वह थीसिस मैं घर छोड़ आया हूं।

हर साल जांचने के लिए कई विश्वविद्यालयों से थीसिसें मेरे पास आती हैं। हर थीसिस को पढ़ कर उस पर प्रतिवेदन बना कर संबद्ध विश्वविद्यालय को भेजना पड़ता है। बहुत से शोध-प्रबंधों में पढ़ने लायक कुछ भी नहीं होता। तब बिना पढ़े भी प्रतिवेदन बना कर भेज देता हूं। यह शोध-प्रबंध, जिस का वायवा लेने जा रहा हूं, पढ़ने लायक न हो, ऐसी बात नहीं। विषय बड़ा आकर्षक था और कई जगह नया चिंतन उस में दिखा। अचरज की बात तो यह थी कि निर्देशक आचार्य विनयशंकरजी थे। विनयशंकरजी का तो अनुसंधान के नए विषयों से कोई लेना-देना है नहीं। नायक-नायिका-भेद या किसी पुरानी पोथी का सांस्कृतिक अध्ययन—इस तरह के विषयों को लेकर वे रिसर्च कराते हैं। दो-चार पेज पढ़ कर ही पता चल गया था कि इस शोध-प्रबंध में विनयशंकरजी का कोई योगदान नहीं है। यदि शोधकर्त्री कोई विवाहित है, तो हो सकता है, यह उसके पति ने लिखा हो, या यदि वह अविवाहित है, तो हो सकता है, उसके विद्वान् पिता ने अपनी बेटी के हाथ पीले न कर पाने की ग्लानि कम करने के लिए यह सब श्रम करके बेटी को अर्पित किया हो। हालांकि शोध-प्रबंध दूसरों के लिए लिखने का धंधा भी खूब चलता है, पर उस धंधे में लगे लोग इतने ऊंचे स्तर की चीज लिख कर दे देंगे—यह आशा नहीं की जा सकती। खैर। जिस किसी ने भी, जिस किसी के लिए शोध-प्रबंध लिख कर दिया हो—मेरा उस से क्या बनने या बिगड़ने वाला था। मुझे तो उस का वायवा लेना है। आम खाने से मुझे मतलब है, न कि पेड़ गिनने से।

फुरसत मिलने पर पूरा शोध-प्रबंध पढ़ कर रिपोर्ट भेजूंगा—यह सोच कर उस समय दो-चार पृष्ठ पढ़ कर मैंने उसे अलग रख दिया था। फिर एक दिन मेरे विश्वविद्यालय के गणित के विभागाध्यक्ष करुणेशजी मिश्र मेरे पास कहने

आए कि फलां-फलां विश्वविद्यालय का कोई शोध-प्रबंध मेरे पास पड़ा हुआ है, उस की रिपोर्ट मैं जल्दी भेज दूं, शोधकर्त्री के पिता उनके मित्र हैं। करुणेशजी के मुझ पर उपकार हैं। मैं फिर देर क्यों करता? मैंने शोध-प्रबंध उठाया, जहां-तहां से उसे उलटा-पलटा और बढ़िया रिपोर्ट तैयार करके डाक से रवाना कर दी। अगर वायवा के लिए विश्वविद्यालय मुझे ही बुलाएगा, तो उसके पहले शोध-प्रबंध अच्छी तरह पढ़ डालूंगा और साथ ले जा कर वहीं लौटा भी दूंगा, यह सोच कर शोध-प्रबंध अपनी लाइब्रेरी में रख दिया। वायवा के लिए बुलावा आ गया। वायवा की तिथि भी मैंने तय कर दी। पर चलते-चलते भी किताबों और शोध-प्रबंध के अंबार में यह शोध-प्रबंध कहां गुम हो गया—मैं खोज न सका।

यात्रा में कोई असुविधा नहीं हुई। गाड़ी वक्त पर गंतव्य स्टेशन पर आई। मैं स्लीपर के दरवाजे से अटैची हाथ में लिए उतरा और निर्गम-द्वार की तरफ बढ़ा। रास्ते में पहले दर्जे का कंपार्टमेंट देख कर सोचा—यदि विनयशंकरजी ने मेरे लिए किसी को लेने भेजा होगा, तो वह यही सोचेगा कि मैं पहले दर्जे से ही उतर कर आ रहा हूं।

पर निर्गम-द्वार तक पहुंच कर भी कोई परिचित दिखाई न दिया। विनयशंकरजी के विभाग के सभी लोग मेरे परिचित ही हैं। उन में से तो, कम से कम, कोई न था।

'क्षमा कीजिए—क्या आप...शहर से आए हैं?' प्रश्न का लक्ष्य तो मैं ही हूं, पर प्रश्नकर्ता को नहीं जानता।

'जी हां, वहीं से हूं।' कह कर मैंने अपना परिचय दिया।

सुनते ही प्रश्नकर्ता हड़बड़ाया, 'लाइए, लाइए, सर, मुझे दीजिए यह।' कहते हुए उस ने अटैची मेरे हाथ से ले ली। शायद यह विनयशंकरजी के विभाग में कोई नया-नया लगा लैक्चरर है—यह सोच कर मैंने पूछा, 'क्या आप विनयशंकरजी के विभाग में हैं?'

'जी नहीं, सर!' तनिक हंस कर उस ने कहा।

हम दोनों बाहर आए। मैं सोचता था कि वह मुझे विश्वविद्यालय अतिथिगृह ले जाने के लिए कोई ऑटो-रिक्शा करेगा। मगर ऐन इसी वक्त एक कार हमारे आगे आ कर रुकी। पिछला दरवाजा खोल कर उस ने बड़े आदर से कहा, 'बैठिए सर।'

इस बार तो विनयशंकरजी ने मेरे स्वागत के लिए कुछ ख़ास इंतजाम किया है—यह सोचता हुआ संतुष्ट हो कर मैं कार में बैठ गया। मेरे स्वागत के लिए आया युवक भी मेरी बगल में बैठेगा यह सोच कर सीट पर एक ओर खिसक गया, पर वह कार की डिकी में मेरी अटैची रखवा कर ड्राइवर के साथ आगे की सीट पर ही बैठ गया। मैं आश्वस्त भाव से सीट के पीछे सिर टिका कर चैन से बैठ गया। अच्छा हुआ, विनयशंकरजी ने वालंटियर भी भेज दिया, कार का इंतजाम भी कर दिया, नहीं तो मैं ऑटोरिक्शा करके विश्वविद्यालय अतिथिगृह पहुंचता। वहां कमरा खुलवाने के लिए चौकीदार को खोजता फिरता।

कार की गति धीमी हुई। वह एक बड़े गेट से किसी कंपाउंड के भीतर जा रही थी। मैं कुछ चकित हुआ। यह तो विश्वविद्यालय कैंपस नहीं है, न सामने अतिथिगृह ही है।

जब तक मैं अपने स्वागतकर्ता से कुछ पूछूं, तब तक वह कार से उतरा और पीछे का दरवाजा खोल कर उसी आदर से बोला, 'आइए सर!'

मैं कार से उतरा। जगह तो कुछ पहचानी-सी लग रही है। सामने ही अंग्रेजी में बड़े अक्षरों में 'पार्क व्यू होटल' यह इबारत देख कर याद आया—कुछ साल पहले साहित्य एकेडेमी के एक सेमिनार में यहीं तो विद्वानों के ठहरने का इंतजाम किया गया था।

इस यात्रा में विनयशंकरजी मुझे क्यों 'वी. आई. पी. ट्रीटमेंट' दे रहे हैं?

उस होटल के वैभव के बीच थोड़ा संकुचित-सा मैं अपने स्वागतकर्ता के साथ अपने लिए आरक्षित कमरे में आ गया।

'आप के साथ परिचय नहीं हो पाया।' मैं उससे कह रहा था।

'मेरा नाम राजेंद्र शर्मा है सर। मैं इसी विश्वविद्यालय में फिजिक्स में लैक्चरर हूं।'

'फिजिक्स में?' कुछ अचरज के साथ मेरे मुंह से निकल गया। वह कुछ कहने ही वाला था, तभी होटल का नौकर मेरा सामान उठाए कमरे में आ गया।

'आप के लिए चाय मंगवाऊं सर, या कॉफी?' राजेंद्र शर्मा मुझ से पूछ रहा था।

'चाय ही ले लूंगा।' मैंने कुछ अन्यमनस्क होकर कहा। वह फिजिक्स में है तो विनयशंकरजी से उसका क्या संबंध हो सकता है? खैर, मुझे इससे करना भी क्या है।

'मैं डॉक्टर विनयशंकरजी को यहीं ले आऊंगा सर।'

राजेंद्र कह रहा था, 'तब तक आप चाय-वाय पी कर आराम करें।'

'अच्छी बात है भई शर्माजी।' मैंने मुस्कराते हुए उसे विदा देने के ढंग से कहा।

'जी सर, जी सर।' उस ने गद्‌गद स्वर में अभिवादन किया और प्रसन्न मुख मुझे निहारता हुआ कमरे से बाहर निकल गया।

करीब एक घंटे बाद विनयशंकरजी आए।

'स्वागत हो, स्वागत हो आपका।' कमरे में प्रवेश करते हुए वे कह रहे थे। पर आवाज में न खुशी थी, न मिठास।

जब-जब भी विनयशंकरजी से मिला हूं, यह अनुभव किया है कि अपने नाम के प्रतिकूल उनमें विनय और शांति दोनों का अभाव है। पर इस समय वे थोड़े शिथिल भी दिखाई दिए। कंधे झुक आए थे और आवाज में वैसा दमखम न था।

'कहिए, कुशल से तो हैं? कुछ दुबले हो गए हैं आप।' मैंने कहा।

'नहीं? ऐसी कोई बात नहीं। सब ठीक ही है।'

अपनी बात पूरी करते-करते सहसा उनकी दृष्टि पीछे से आए राजेंद्र पर जा पड़ी। उसे देखते ही उनके स्वर में बेहद कर्कशता आ गई। आदेश देते हुए उन्होंने उससे कहा, 'भैया राजेंद्रजी। डॉक्टर साहब को कोई कष्ट नहीं होना चाहिए। देखना ऽ...ऽ...ऽ हैं!'

उनके स्वर से कांपते-से राजेंद्र ने कहा, 'जी सर, जी सर!'

'राजेंद्रजी से आप का परिचय हुआ?' फिर उन्होंने मुझ से पूछा।

'हां, परिचय तो हुआ।' मैंने कुछ अनिश्चय के साथ कहा, 'ये आपके विश्वविद्यालय से फिजिक्स के लैक्चरर हैं।'

'अजी, इतना ही नहीं। ये निर्मला के पति भी हैं।'

'निर्मला?' मेरे भीतर स्मृति की बहुत अस्पष्ट तरंग-सी उठी।

'निर्मला का स्मरण नहीं आपको?' मुझे ऊहापोह में लगा देख कर विनयशंकरजी ने कहा।

'हां, ठीक से याद नहीं कर पा रहा हूं।'

'अरे भाई, वही निर्मला जिसका वायवा आप को लेना है।'

'अच्छा। अब याद आ गया।' मैंने हंसते हुए राजेंद्र को नए सिरे से पहचान करते हुए देखा।

'कुछ समझे? ये बड़े भारी विद्वान् हैं—धुरंधर। सारे देश में जाते हैं—सब जगह। विदेशों में जा चुके हैं। इनको कोई कष्ट न हो। ये ध्यान रखना। इस में चूक न होनी चाहिए।'

मैंने लक्ष्य किया कि राजेंद्र से वे कुछ भी कहते, तो उनके स्वर में भर्त्सना और प्रताड़ना का भाव आ जाता।

'चाय मंगवाऊं सर?' राजेंद्र विनयपूर्वक मुझ से पूछ रहा था।

'हां, हां। इस में पूछना क्या है?' मेरी ओर से विनयशंकरजी ने उत्तर दिया।

'चाय भिजवाता हूं। फिर विश्वविद्यालय जाकर वहां सारी व्यवस्था करवा कर एक-आध घंटे में आता हूं!'

राजेंद्र चला गया। थोड़ी देर में चाय आ गई।

'बहुत समय से आपसे संपर्क नहीं हो पाया। परिवार में सब कुशल-मंगल है?' मैं विनयशंकरजी से पूछ रहा था।

'सब कुशल-मंगल ही है।' अन्यमनस्क से वे कहने लगे, 'कुछ गृहस्थी के प्रपंच में उलझे रहे हम समझिए। मकान बनवा लिया। बड़ा लड़का पढ़ाई पूरी करके इंजीनियर हो गया। छोटा मेडिकल में है। लड़की थी, उसकी शादी कर दी। अब चैन मिला है कुछ।'

सहसा उनके स्वर में कटुता आ गई, 'विश्वविद्यालय में क्या धरा है?' वे कहने लगे, 'कुछ नहीं! शोधकार्य का निर्देशन हम काहे को करें? शोध करने के लिए, बस, महिलाएं चली आतीं हैं। ये महिलाएं—अरे काहे को चली आती हैं भई ये? घर में रहें। काहे नहीं रहतीं घर में? अब इसी को लीजिए—निर्मला को। ससुरजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं। मित्र हैं। उनके कहने से हमने इसे अपने निर्देशन में ले लिया। नहीं तो किसको पता है किसकी थीसिस है, किसने लिखी है! हमें कुछ नहीं पता—क्या शोधकार्य किया है इन्होंने। सच्ची बात तो यह है कि इनके शोध-प्रबंध की एक पंक्ति तक भी हमने नहीं पढ़ी।'

मैं कुछ चकित होकर विनयशंकरजी को ताकता रह गया। यह सब उन्होंने क्यों कहा? इतनी लंबी-चौड़ी सफाई वे मेरे आगे क्यों दे रहे हैं? तभी और भी तीखे और तीव्र स्वर में उन्होंने कहना शुरू किया, 'शादी हो गई। अरे भई, जब तक शादी नहीं हुई, तब तक तो समझ में आता है कि

शोध-बोध करना है, तो करती रहे लड़की, और क्या करेगी नहीं तो ससुरी? अब शादीशुदा लड़की का क्या शोध-फोद बताइए। इन्होंने शोध कर डाला। ऐसा शोध किया साहब कि इनके यही पति देवता—राजेंद्रजी—शोध-प्रबंध की टाइप की हुई चार प्रतियां अचानक हमारे सामने लाकर पटक देते हैं और धमकाते हुए कहते हैं—'करते हैं आप दस्तखत कि नहीं?—जबरदस्ती दस्तखत लेलिए!'

'अरे, अरे!' मैंने ऐसा अकल्पनीय वृत्तांत सुनकर बेहद खेद प्रकट करते हुए कहा।

एक क्षण कमरे में सन्नाटा छाया रहा। फिर विनयशंकरजी ने उतने ही कटु, पर बहुत धीमे स्वर में कहा, 'ठीक है। जो हुआ, सो हुआ। हमारा क्या जाता है। अब इनका वायवा बचा है, सो निपटा दिया जाए, और क्या?'

'भइवाह' कहना चाहिए।' मैंने उनके दुख से बोझिल चित्त को हल्का करने के लिए विनोद के साथ कहा, 'आप को पता है, पंडित विद्यानिवासजी मिश्र इसे मजाक में 'भइवाह' ही कहते हैं।' कह कर मैं तनिक हंसा भी।

विनयशंकरजी के मुख पर मुस्कान की क्षीण रेखा भी उदित नहीं हुई। क्या किया जाय! वायवा का समय नजदीक आ रहा है, मुझे इन्हीं के साथ वायवा लेना है उस लड़की का और ये हजरत इस तरह मुंह लटकाए हुए हैं। इस सारी स्थिति को परख कर एक बार तो सोचा कि इनको पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी वाला किस्सा सुना डालूं क्या?

एक परिहास गोष्ठी में किसी प्राध्यापक मित्र ने मुझे वह किस्सा सुनाया था। सच्चा है या झूठा, मुझे मालूम नहीं। किस्सा यों है कि एक बार पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी किसी विश्वविद्यालय में पी-एच. डी. का वायवा लेने गए। वायवा किसी लड़की का था। पंडितजी की महिमा और कीर्ति-कथा सुन-सुन कर शोधार्थिनी पहले ही बेहद आतंकित थी। वायवा का अनुष्ठान आरंभ हुआ, शुरू में ही आचार्यवर्य ने उसके शोध-विषय से संबद्ध कोई गुरु-गंभीर तलस्पर्शी सवाल उठा दिया। शोधकर्त्री पहले तो चकित हुई, फिर कुछ देर स्तब्ध बैठी रह गई, फिर फफक-फफक कर रो पड़ी। उसके अश्रुप्रवाह को देख कर आचार्य करुणाविगलित हुए, और बोले, 'अरे, अरे, बिटिया, रोओ नहीं। चलो, अब हम तुमसे शोध के विषय में कोई प्रश्न नहीं पूछेंगे। केवल इतना बता दो कि मान लो हमें चाय बना कर पिलाना है, तो कैसे बनाओगी, बताओ।' शोधकर्त्री प्रोत्साहित हुई। उस ने चाय बनाने की विधि बताना शुरू किया—पहले पानी उबलने के लिए केतली में रखूंगी, फिर उसमें चाय की पत्ती डालूंगी और फिर दूध-शक्कर मिला कर आप को दे दूंगी। आचार्य ने कहा—'धत् तेरे की। शक्कर कितनी चम्मच डालना है—यह नहीं पूछोगी क्या?'—यह सुन कर शोधकर्त्री झंझा में प्रकंपित बाल-कदली की तरह असहाय और विह्वल होकर फिर रो पड़ी। आचार्य ने उसे फिर ढाढ़स बंधाया और उसके चुप होने पर बोले—चलो, अब एकदम और भी सरल प्रश्न करते हैं। समझ लो, हमारे लिए दाल बनाना है। कैसे बनाओगी? बताओ। शोधकर्त्री को लगा कि अब अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का यह आखिरी मौका है। उसने बहुत सावधानी से बताना शुरू किया—पहले उबलने के लिए अदन का पानी चढ़ाऊंगी, फिर उसमें दाल डालूंगी, फिर इस तरह से बघार लगाऊंगी और नमक डालने लगूंगी तो आप से पूछूंगी कि कितना चम्मच नमक? यह सुनकर आचार्य ने अट्टहास करके कहा—शाबास शाबास, अब तुम बिलकुल पी-एच. डी. उपाधि के योग्य हो गईं।

विनयशंकरजी इतने गंभीर, बल्कि उखड़े-उखड़े से थे कि यह किस्सा इस समय सुनाने की मेरी तबीयत न हुई।

'यह आखिरी वायवा है हमारे निर्देशन में।' वे कह रहे थे, 'अब तो हम शोध के लिए किसी को ले ही नहीं रहे हैं अपने निर्देशन में। इसलिए अब आगे से वायवा या 'भइवाह', जो भी आप इसे कहें—इस सब से हम मुक्त हुए।'

'कुछ शोध-शूर 'वाह-वाह' भी कहते और समझते हैं।' मैंने विनोद करते हुए कहा, 'दरअसल हमारे विश्वविद्यालय में तो एक शोधकर्त्री ने कुलपति को शिकायत लिख कर दी थी कि विभागाध्यक्ष महोदय उसका 'वाहवाह' नहीं होने दे रहे हैं। बिलकुल यही वर्तनी लिखी थी उसने।'

म्रियमाण मुस्कान की एक क्षीण रेखा अबकी बार विनयशंकरजी के अधर और ओष्ठ के अंतराल में उगी। फिर दोनों ओठ तुरंत सिकोड़ कर मुंह बिचका कर वे बोले, 'ये शोधकर्त्रियां! ये छात्राएं! ये समझती ही क्या हैं?'

इसी समय राजेंद्र आ पहुंचा। 'चलें सर?' कमरे में घुसते ही उसने पूछा।

'सब इंतजाम कर दिया है? फाइल निकलवा ली? शोधकोष्ठ के बाबू हैं? टी. ए. के भुगतान के लिए कह दिया है?' सवालों की बौछार से उस पर प्रहार-सा करते

हुए विनयशंकरजी कह रहे थे, 'हमने पहले ही साफ-साफ कह दिया है—याद है न? ये बड़े विद्वान आदमी हैं, सज्जन हैं, यात्रा का इतना सब कष्ट उठाकर यहां आए हैं। इनके सत्कार-सम्मान में कोई चूक न हो? समझ तो रहे हैं न?'

'जी सर, जी सर!' राजेंद्र ने मस्तक झुकाए हुए इतना ही कहा।

'सब हो जाएगा। चिंता की कोई बात नहीं।' मैंने उसे पस्त हालत में देखकर कहा।

पर विनयशंकरजी उस पर लगातार हमला बोलने की मुद्रा में तैयार थे। वे फिर कहने लगे, 'देखो भई। इतने बड़े विद्वान् पंडित आदमी के सेवा-सत्कार के अलावा आप कर ही क्या सकते हैं? कर सकते हैं क्या? बताइए?'

कार के पीछे की सीट पर मेरे साथ बैठे हुए विनयशंकरजी थोड़े खुश नजर आ रहे थे। राजेंद्र ने पान और तमाखू ला दिया था। मुंह में पान भरा होने तथा तमाखू का रस बाहर टपकने से बचाने के लिए ऊंचा मुंह करके अस्पष्ट सुर में कुछ विनोद के साथ वे कह रहे थे, 'ये राजेंद्र भाई साहब हैं। इन्होंने शशुर अपना शोधकार्य तो ताक पर रख दिया, पर अपनी धरमपत्नी को पी-एच. डी. दिला कर ही छोड़ेंगे। पत्नी के लिए क्या-क्या नहीं किया इन्होंने। अरे भई पति हो तो ऐसा हो।'

हम विश्वविद्यालय कार्यालय पहुंच गए। समिति-कक्ष में बैठकर मैंने यात्रा-व्यय का बिल भरा। विनयशंकरजी बार-बार राजेंद्र को भुगतान समय पर करवा देने के लिए कौंच रहे थे। राजेंद्र बिल का फॉर्म लेकर कमरे से चला गया। मैंने वायवा की फाइल खोली और दूसरे परीक्षक की रिपोर्ट पढ़ने लगा। मेरी तरह दूसरे परीक्षक ने भी आद्यंत ठीक से थीसिस नहीं पढ़ी थी और बंधे-बंधाए वाक्यों में रिपोर्ट लिख डाली थी।

'तो शुरू करें?' मैंने विनयशंकरजी से अनुज्ञा लेने के भाव से पूछा।

'हां, हां। शुरू कीजिए। निपटाइए। और करना ही क्या है?' उन्होंने उपेक्षा के साथ कहा।

वायवा का गोरखधंधा किसी तरह निपटाना होता है, यह क्या मैं नहीं जानता?

सामने बैठी शोधकर्त्री पर अब मैंने दृष्टि डाली। विनयशंकरजी के साथ बातचीत या टी. ए. बिल वगैरह की खानापूर्ती करने में अपने-आप को व्यस्त दिखाते हुए अभी तक मैंने उसकी तरफ बिलकुल ध्यान नहीं दिया था। वायवा का परीक्षार्थी तो सर्वथा उपेक्षणीय ही होता है, आदर-सम्मान की बात ही क्या? वह भी कक्ष में प्रवेश करते ही अभिवादन करके तब से चुपचाप बैठी थी।

'हां तो...' मैंने खांसकर गला साफ करते हुए उड़ती नजर उस पर डालकर पूछा, 'समकालिक बोध से आप का तात्पर्य क्या है—पहले तो यही स्पष्ट कीजिए।'

वह धीरे-धीरे बोलने लगी। मेरी उदासीनता धीरे-धीरे कौतूहल में बदलने लगी। फिर मैं आंखें फाड़े उसे ताकता हुआ सुनता रह गया। वह तो सचमुच ही समकालिकता, इतिहास और परंपरा पर बात कर रही थी। इलियट का उसने उद्धरण दिया, वह ठीक ही था। फिर वह सूसन लैंगर पर आ गई।

अरे, यह तो सचमुच जानकार लगती है। मुझे इसकी उपेक्षा और अवमानना नहीं करनी चाहिए थी।

समकालिक बोध के बारे में मेरी दो किताबों तक का उसने ब्योरा दे दिया। मुझे अच्छा लगा।

धीरे-धीरे मेरी वाणी लौटी। मैं बहस के लिए तैयार हुआ। सवालों और शंकाओं के घेरे में उसे जकड़ने की कोशिश करने लगा। पर वह मेरे बनाए हर व्यूह को काटती जा रही थी।

इस निरर्थक जीवन में वायवा जैसे बहुसंख्य निरर्थक काम निपटाने होते हैं। शास्त्र की भाषा में नैमित्तिक कर्म। 'डॉक्टर' की पदवी पाने के अभिलाषी न जाने किन-किन लोगों के उद्धार के लिए मैं वायवा के पंक में उतरा हूंगा। पर 'वायवा-रस' जैसी कोई चीज यदि हो सकती है, तो उसे पहली बार जाना।

विनयशंकरजी शून्य में डूबे हुए शून्य में ताक रहे थे। मैं शोधकर्त्री से रीतिकाल के बारे में पूछ रहा था। उस ने घनानंद का पूरा एक छंद आद्यंत सुना दिया।

'अरे भई, ठीक है, ठीक है।' विनयशंकरजी मुझसे कह रहे थे, 'आप भी इतनी गंभीरता से क्यों ले रहे हैं वायवा को। यह तो औपचारिकता है। समाप्त कीजिए अब।'

शोध-प्रबंध सामने रखा था। उसे उलटाते-पलटाते हुए मैंने दो सवाल और पूछ डाले।—'लिखिए, रिपोर्ट लिखिए। निपटे वायवा का प्रपंच।' विनयशंकरजी मुझे फिर कौंच रहे थे।

मैंने रिपोर्ट में शोध-प्रबंध की प्रशंसा की और उसे प्रकाशन के योग्य बताया। फिर अंतिम औपचारिक वाक्य लिख कर दस्तखत करके फाइल विनयशंकरजी की ओर बढ़ा दी।

शोध-प्रबंध की इतनी तारीफ उन्हें शायद रुचिकर नहीं लगी थी। उन्होंने कुछ मन मसोस कर फाइल पर हस्ताक्षर किए—ऐसा लगा। फिर त्वरा दिखाते हुए बोले, 'जरा कुलपति से मिलना है। आप रुकिए। हम आते हैं।'

वे गए और मिठाई की प्लेटें चपरासी से उठवाए हुए राजेंद्र आ गया।

'अरे इनके निर्देशक महोदय कहां चले गए?' विनयशंकरजी की कुर्सी खाली देखकर वह पूछने लगा।

'वे कुलपतिजी से मिलने चले गए हैं।' शोधकर्त्री निर्मला ने कहा।

'रिपोर्ट वाली फाइल तो साथ नहीं उठा ले गए?' राजेंद्र ने चिंतित होकर पूछा, फिर फाइल मेरे सामने रखी देखकर कहा, 'चलो, फाइल तो यहीं रखी है। फाइल का खयाल रखना। मैं श्रीवास्तव बाबू को बुलाकर लाता हूं।'

उसके जाने पर मिठाई की प्लेट मेरे आगे सरका कर निर्मला ने कहा, 'लीजिए सर।'

मैंने एक बिस्किट उठाया और यों ही उस से बातचीत करने के लिए पूछा, 'इस समय क्या कर रही हैं आप?'

'अभी तो एक स्कूल में पढ़ा रही हूं। दरअसल मैंने विश्वविद्यालय में नियुक्ति के लिए अर्जी दी थी। उसी कारण से मेरे गाइड नाराज हो गए।'

'विनयशंकरजी? अरे! क्यों पर?'

'उनका कोई साला है। वे उसकी नियुक्ति कराना चाहते थे। मेरी सब जगह फर्स्ट क्लास फर्स्ट है। इंटरव्यू में मेरे सामने वह कमजोर पड़ता। तो ये मेरे ससुरजी से कहने आए थे कि निर्मला से कहिए इंटरव्यू में न जाए। उनके अनुरोध की परवाह न करके मैं इंटरव्यू में चली गई। खैर, नियुक्ति तो किसी की भी नहीं हो पाई। पर तब से ये मेरे ऊपर बहुत कुपित रहते हैं। अपनी थीसिस का जो भी अध्याय मैं इन्हें देखने के लिए देती, वह इनके घर से इधर-उधर हो जाता। डेढ़ वर्ष पहले दिए हुए दो-तीन अध्याय इन्होंने देखकर नहीं लौटाए, जबकि रजिस्ट्रेशन की तिथि से चार वर्ष समाप्त होने को आ रहे थे। चार वर्ष पूरे होने पर रजिस्ट्रेशन कैंसिल हो जाता है। मैंने रफ ड्राफ्ट से फिर से वे अध्याय लिखे और शोध-प्रबंध फिर इनसे जंचाए बिना ही सीधे टाइप करवाकर प्रस्तुत कर दिया।'

विनयशंकरजी के बारे में यह सब मेरे लिए अकल्पनीय था।

तभी किसी बाबू के साथ राजेंद्र फिर आ गया। 'भैया श्रीवास्तवजी, इस फाइल का ध्यान रखना। आचार्यप्रवर कुलपति से मिलने गए हैं। वे आखिरी क्षण तक विघ्न करेंगे।' वह बाबू से कह रहा था।

श्रीवास्तव ने फाइल खोली। मेरे द्वारा लिखी वायवा की रिपोर्ट का आखिरी वाक्य पढ़ा, फिर बोला, 'अब तो विधाता भी निर्मलाजी को पी-एच. डी. मिलने से नहीं रोक सकते।' फिर वह फाइल लेकर चला गया।

राजेंद्र ने मुझ से पूछा, 'आपका यात्रा-व्यय का भुगतान वो बाबू आकर दे गया कि नहीं सर?'

इसके साथ ही अब मैं भी चिंतित हुआ। वायवा निपट गया। इन लोगों का काम बन चुका। अब मेरी टी. ए. का रुपया न मिला तो मैं कर ही क्या लूंगा। विश्वविद्यालयों में यात्रा-व्यय के भुगतान में जो दिक्कतें आती हैं, मैं उन्हें खूब भुगत चुका हूं।

पर राजेंद्र गया और भुगतान शाखा के बाबू को साथ लेकर आ गया। यात्रा-व्यय की राशि नगद मेरे हाथ में आ गई।

मैं प्रसन्न हुआ। यात्रा का फल मिल गया। दंपती को आशीर्वाद देते हुए मैंने कहा, 'अच्छा भई डॉक्टर राजेंद्र और निर्मलाजी, आप दोनों को बहुत-बहुत बधाई।'

'मैं तो पी-एच. डी. नहीं हूं सर! आप इसी को, अपनी शिष्या को ही बधाई दीजिए।' राजेंद्र ने हंसते हुए कहा।

'ये विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। इतने साल हो गए—एक थीसिस पूरी नहीं कर पाए अपनी।' निर्मला अपने पति को शिकायत के साथ निहारते हुए कहने लगी, 'इधर-उधर घूमने से और राजनीति करने से फुरसत मिले तब न—'

'फिजिक्स में रिसर्च इतनी आसान नहीं है मैडम, जितनी आपके विषय में।' राजेंद्र ने तुनक कर कहा, 'और जब आपके शोध-प्रबंध को विनयशंकरजी फार्वर्ड नहीं कर रहे थे। तब चार पहलवान साथ ले जाकर उनके हस्ताक्षर उस पर करवा कर कौन लाया था—यह बताइए।'

निर्मला हंसने लगी।—'सर, अगर इनका विषय

हिंदी, अंग्रेजी या संस्कृत होता, तो मैं ही इनकी थीसिस लिखकर दे देती।'

इसी समय एक चपरासी आया और राजेंद्र तथा मेरी तरफ देख कर बोला, 'विनयशंकर साहब की तबीयत थोड़ी खराब हो गई है, इसलिए वे घर चले गए हैं। रात के खाने के लिए उन्होंने बोला था साहब को, उसके लिए भी उन्होंने माफी मांगी है।'

'ठीक है, होटल पहुंचकर रात के खाने का आर्डर दे दूंगा।' मैंने कहा।

'अरे नहीं सर।' निर्मला ने बड़े आग्रह से कहा, 'खाना आप हमारे साथ खा रहे हैं घर पर। रूखा-सूखा जो-कुछ मैं बनाऊंगी, आप खाइएगा।'

'ठीक है।'

फिर मैं उन दोनों के साथ विश्वविद्यालय कार्यालय से बाहर आ गया। ❖

संस्कृत से अनुवाद : **लेखक द्वारा**

शांति का उत्स कौन है? यह प्रश्न अनादि से है। तत्त्व-द्रष्टाओं ने इसका समाधान स्वयं में ढूंढ़ा। दार्शनिकों ने इसे आश्चर्य की भूमिका पर ला समाहित किया। कवियों ने सतत प्रवहमान कल्पना पयस्विनी में बहकर ही इसका समाधान पाया। सभी ने इसे अपने-अपने माध्यम से व्यक्त किया, फिर भी इसकी जिज्ञासा ज्यों-की-त्यों बनी रही।

अनुभव के आलोक में मैंने पाया कि व्यक्ति स्वयं ही शांति का स्रोत है, यह उसका स्वभाव है। जब वह स्वभाव से दूर हटता है, तब अशांत बनता है।

एक शब्द में व्यक्ति शांति का मूल है और समष्टि अशांति का। साधना के क्षेत्र में व्यक्तिवादी भावना ही श्रेयस्कर होती है। सभी साधक अपने-अपने उत्तरदायित्व निभाएं, यह अपेक्षित है। कोई दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप करता है, यह उसकी अनाधिकार चेष्टा है। अध्यात्म व्यक्तिवाद का समर्थक है। वह कहता है—'पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं पुण्णं, पत्तेयं पावं...' यह साधना का मूल-मंत्र ही नहीं, स्वयं अपने-आप में सिद्धि भी है।

दूसरे की प्रवृत्ति तुम्हें अच्छी नहीं लगती। इसका मूल है—रुचि की विविधता। इसके आधार पर दूसरों को भला-बुरा कहना अपने-आप को नीचे गिराना है। सभी अपने-अपने उत्तरदायित्व जानते हैं, उसी की सीमा में रहकर वे कुछ करते हैं। तुम उनकी अपेक्षाओं को समझो तो स्थिति स्वयं स्पष्ट हो जाएगी। अपेक्षाओं की असमझ ही कलह का मूल है। तुम अपनी अपेक्षाओं से सोचते हो और वह अपनी। तुम्हें जो अन्याय लगता है, वह उसे कर्तव्य लगता है—यह भी संभव है। ऐसी स्थिति में कलह का उद्‌भव विवेकहीनता है। दूसरों के कृत्यों पर उद्‌विग्न नहीं होना—यह उत्तम है। परंतु सभी इस आदर्श पर नहीं पहुंच पाते। अतः सभी को इसी आदर्श के आस-पास की भूमिका पर अपनी सीमा बनानी चाहिए, वही शांति की प्रेरक बन सकेगी।

दूसरे के कार्यों का जब तक स्वयं के स्वार्थ पर आघात नहीं होता, तब तक उनके शुभाशुभ फल से प्रभावित या आतंकित होना क्षुद्रता है। यह एक सीमा है—जो व्यावहारिक है और सुलभ भी।

—मुनि दुलहराज

राजकमल चौधरी की कविताएं

•

महावन-1

जीवन के इस समय-दाहक महावन में
हम कितने युगों से खोज रहे हैं—
किसी अरूप देवता पर अर्पित किरणमाला।
हम सभी अनिकेत, अपराजित;
खोया हुआ एक रास्ता
एक खोए हुए स्वप्न का रक्त-श्वेत तारतम्य,
हम सभी अनिकेत, अपराजित
कितने युगों से खोज रहे हैं
जीवन के इस प्राण-पावक महावन में
किरणमाला!

अंधेरे में मिलते हैं अतीत-प्रेत के वृक्ष-शव अनेक!
पांव तले छटपटा रही है स्वर्ग-पतिता अप्सरा!
आंखों में ठंड से कांपते हैं ज्वरग्रस्त पक्षीवृंद!
बार-बार एक काला-पीला गिद्ध
उचारता है मेरा ही नाम—
हे कवि, इस बार आप ही चलें भुतहा मसान
खपरी में भूनें आप ही अपना प्राण!
पांव तले छटपटाती स्वर्ग-भ्रष्ट अप्सरा, और
खोए हुए रक्त-श्वेत तारतम्य
हम लोगों को
अब भी विकल-व्यथित कर रहे हैं, अकारण!
अब भी मथ रहे हैं नीर-सागर
देव-दानव अविवेकी,
धर्मराज से अब भी नचिकेता हमेशा पूछता है—
जीवन और मृत्यु का रहस्य;
अब भी हाथी निहत होता है एक अश्वत्थामा
किसी युधिष्ठिर के सत्य और नैतिकता की सुरक्षार्थ
—किंतु,
ये सभी पौराणिक दुष्कांड होते हैं
इसी महावन में
हमारे ही अंतरंग में होते हैं
द्रोपदी चीर-हरण
और, राजा जनमेजय का विख्यात नाग-यज्ञ!

→

•
महावन-2

अंधेरे में मिलते हैं,
अतीत-प्रेत के शव-वृक्ष अनेक;
किसी का पहचाना हुआ एक चेहरा नहीं मिलता है
कि उसी से पूछा जाए—
उस मंदिर का मार्ग,
पूछा जाए उस अरूप देवता का हिरण्यगर्भ सिंहासन—
जिस पर उत्सर्ग किए किरणमाला
हमलोग
खोज रहे हैं मनुपुत्र के लिए!

महावन में गूंजता है केवल मृत वेश्याओं का क्रंदन
केवल एक काला-पीला गिद्ध
उचारता है मेरा ही नाम—
सूखे सेमल के कुष्टोदर में बैठे हुए हंसता है;
हम सभी अनिकेत,
अपराजित बारिश से बचने के लिए;
बचने के लिए बज्र-ठनके से
सेमल की इस डाल से उस डाल तक छुपते हुए
मृत्यु से छुपा-छुपौव्वल खेलते रहते हैं रात-भर!
किंतु,
कभी नहीं खत्म होती है रात!
कभी नहीं पंचम सुर में गाती है कोयल
भोर याकि वसंत के गीत!

हमारे पूर्वजों ने देखी थी भोर!
गाई थी प्रभाती,
वसंत के स्वागत में वसंत-बहार बन गए थे;
किंतु, आज हम लोग इस महावन में हैं समस्त
पूर्वज-विहीन!
उनका कोई संस्कार, कोई परंपरा,
कोई श्रद्धा नहीं रह गई है हम लोगों में!
हम सभी निराश्रित, निराधार
कर रहे हैं अमावस्या के इस श्मशान में
सारी व्यतीत वस्तुओं को अस्वीकार!

•
महावन-3

अब अस्तित्व के अविचल यथार्थ केवल दो ही हैं—
पहला यह कि हम सभी खोज रहे हैं
किरणमाला;
दूसरा इतना ही कि अतीत-प्रेत की अनिवार्य संगति में,
महावन में जीवित हैं हम लोग!

❖❖

शीलन

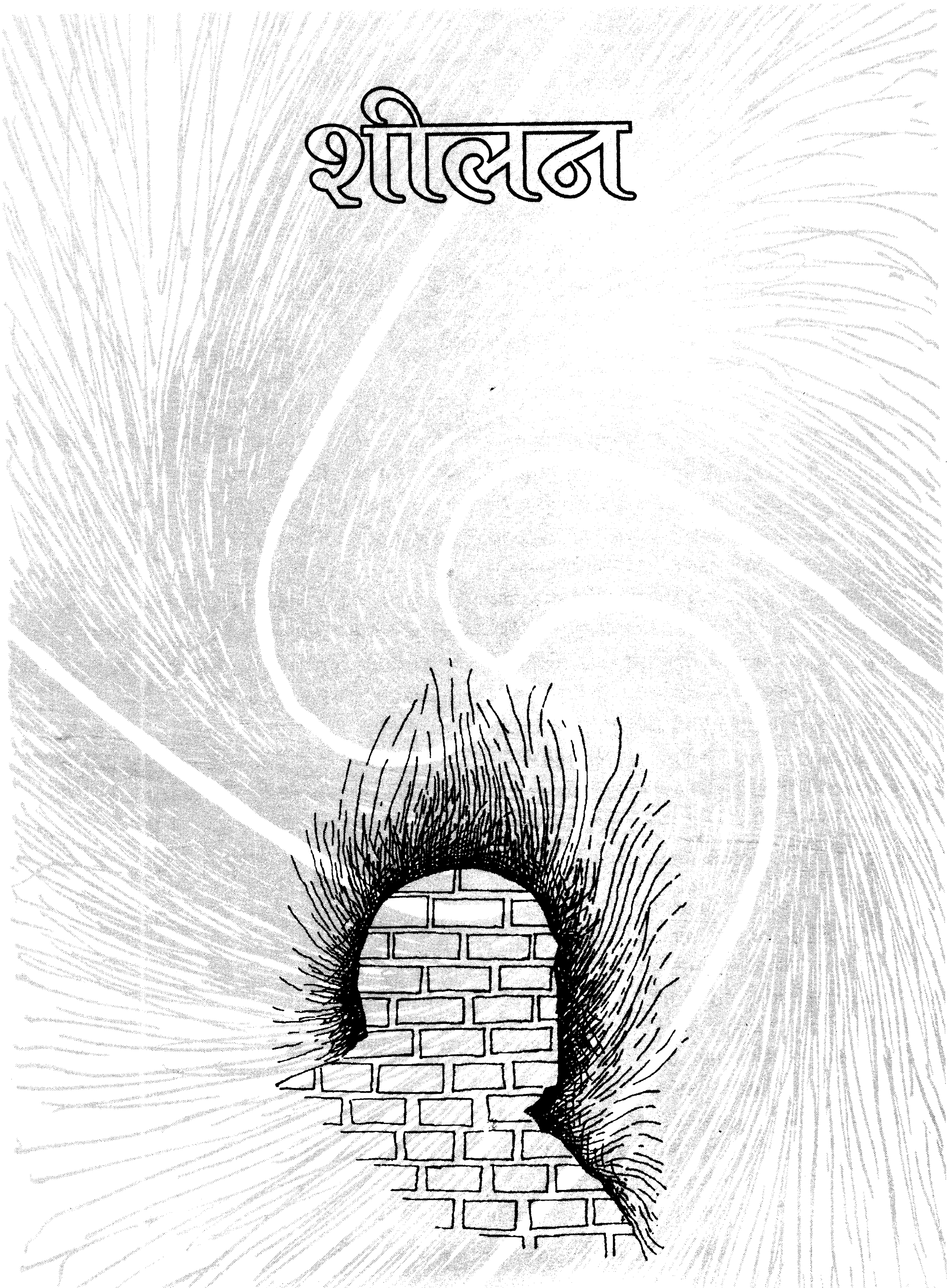

जिस संस्कृति ने मृत्यु को जीवन बना दिया— उसके उपासकों में आज मृत्यु का अपार डर भरा हुआ है। उनको मृत्यु शब्द ही सहन नहीं होता। सब लोग केवल शरीर का ही लाड़-प्यार करने-वाले बन गये हैं। जो महान् ध्येय के लिए उस देहरूपी मटकी को हंसते-हंसते फोड़ने के लिए तैयार हों—वे ही भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक हैं। अपने चमड़े से ही प्यार करनेवाले भारतीय संस्कृति के नाम को सुशोभित नहीं करते। भारत के सारे दैन्य-दास्य और विषमय वैषम्य को दूर करने के लिए देह का बलिदान करने को जब लाखों युवक-युवतियां तैयार होंगे, तभी भारतीय संस्कृति की सुगंध दिशा-दिशा में फैल जाएगी और भारत नए तेज से जगमगा उठेगा।

—पांडुरंग सदाशिव साने

कुछ लोग मोक्ष की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। उनके अभिमत से मोक्ष में न कोई जिज्ञासा है, न कोई तर्क। न कोई मनोरंजन है, न अन्य उपलब्धि। अकर्मण्य बनना है। उन्हें पता नहीं कि मोक्ष कामना की वस्तु नहीं। मोक्ष अर्थात् अस्तित्व की शुद्धता। मोक्ष न चाहने का अर्थ है—अपने अस्तित्व का अस्वीकार। न चाहने पर भी अस्तित्व से मुक्त नहीं हो सकता। अस्तित्ववादी विचारधारा का केंद्र-बिंदु है—मोक्ष। धर्म साधन है। मोक्ष साध्य है।

❑ ❑

मोक्ष : एक अनुचिंतन

❑ साध्वी नगीना ❑

आर्य संस्कृति की अनुपम खोज है—'निर्वाण' साधना का चरम विकास, गौरीशंकर का शिखर और लोक के अग्रभाग में स्थित यह ऐसा स्थान है जहां न जन्म है, न मृत्यु। आधि-व्याधि-उपाधि से मुक्त। अव्याबाध, आत्यंतिक सुख की अनुभूति।

गीता में कहा है—उस परम स्थान को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चंद्रमा। वह स्वतः ज्योतिर्मय है।[1] जैन, बौद्ध और वैदिक दार्शनिकों ने मुक्त रूप से निर्वाण के अस्तित्व को स्वीकार किया है। किंतु व्याख्या-विश्लेषण की दृष्टि से विचार-भिन्नता है।

गीता में कहा गया है—जब-जब धर्म का ह्रास होता है, अधर्म और अन्याय जब मर्यादा की लक्ष्मणरेखा का अतिक्रमण कर देते हैं, तब 'मैं' पुनर्जन्म धारण करता हूं। मेरे अवतरण का उद्देश्य है—दुष्टजनों का निग्रह, सज्जनों का संरक्षण।[2]

बौद्ध दर्शन कहता है—जब कभी तीर्थ की प्रभावना कम हो जाती है, तब परम पद निर्वाण को प्राप्त आत्मा पुनर्जन्म ग्रहण कर संघ रूपी तीर्थ में परिव्याप्त विकृति को दूर करती है।[3]

जैन दर्शन की मान्यता पृथक् है। मोक्षप्राप्त आत्माएं कभी संसार में अवतार नहीं लेती।

जहा दड्ढाणं वीयाणं न जायंति पुणंकुरा।
कम्म बीएसु दड्ढेसु न जायंति भवांकुरा।

जैसे बीज के दग्ध होने पर अंकुरित नहीं होता, वैसे सिद्धात्मा के जन्म-मरण रूप कर्म का सर्वथा नाश हो जाता है। अतः पुनरवतार का कोई अवकाश नहीं रहता।

जैन दर्शन की पहली शर्त है—राग-द्वेष से मुक्ति। कर्मबंधन का मूल हेतु है—राग-द्वेष। दोनों में कार्य-कारण संबंध हैं। राग-द्वेष कारण है, कर्म कार्य है। कर्ममुक्त आत्माएं अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती हैं। शरीर ही नहीं—तब नाम, रूप, आकार तथा शरीरजनित सुख-दुख, मोह, अहंकार, जन्म-मृत्यु, व्याधि, क्षुधा, गर्मी, उपसर्ग आदि का अस्तित्व कहां रहेगा? यही निर्वाण की वास्तविक स्थिति है। सारी उपाधियां शरीर के आस-पास रहती हैं। शरीर है, इंद्रियां हैं, मन है—वहां हलचल है, चंचलता है, द्वंद्व है, संघर्ष है। शरीर बिना उपाधियां कैसी?[4]

उमास्वाति के शब्दों में कषायों के अनुरूप ही कर्म पुद्गलों को जीव आकृष्ट करता है।[5] यही बंधन है। कर्मों से रहित होना मोक्ष है।[6]

न्याय-वैशेषिक दर्शन में दुख की आत्यंतिक निवृत्ति को मोक्ष स्वीकार करते हुए भी शरीर-विच्छेद को मोक्ष नहीं माना। उनके अभिमत से तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार आत्मा का अपने से भिन्न, विजातीय वस्तुओं से संबद्ध होना बंध है। मीमांसा में बंधन तीन प्रकार के माने हैं—1. भोगायतन शरीर, 2. भोग-साधन इंद्रियां और 3. भोग-विषय समस्त जागतिक पदार्थ। इन तीन बंधनों से आत्मा अनादिकाल से आबद्ध है। इसे ही भव-बंधन कहा है। इनसे मुक्त होना मुक्ति है।

बौद्ध दर्शन में दुख-निरोध को निर्वाण कहा है। निर्वाण शब्द निट् उपसर्ग पूर्वक 'वा' धातु से ल्युट् प्रत्यय का योग होकर निर्वाण शब्द बनता है—जिसका अर्थ

बुझना है। बौद्धों को निर्वाण का बुझना अर्थ अभिप्रेत नहीं है। आत्मा का अस्तित्व ही उन्हें मान्य नहीं, तब बुझना अर्थ कैसे मान्य होगा?

उनके अभिमत से दीपक के बुझ जाने से उसकी लौ न तो जमीन की ओर जाती है, न आकाश की तरफ, न किसी दिशा-विदिशा में व्याप्त होती है। तैल के समाप्त होते ही दीपक शांत हो जाता है, वैसे ही जीव भी क्लेश-क्षय होने से बिल्कुल शांत हो जाता है।

जैन दर्शन कहता है—दीपक का बुझ जाना, उसकी ज्योति का मिट जाना नहीं, बल्कि रूपांतरण हो जाना है। निर्वाण का अर्थ अस्तित्वहीनता नहीं, बल्कि स्वभाव में परिणति है। अनात्मभूत परिणतियों से मुक्त हो आत्मगुणों में लीन होना निर्वाण है। स्वरूप की प्राप्ति के लिए साधक को आत्मा पर लगे हुए विकारों, आवरणों, उपाधियों से रहित होना अत्यंत आवश्यक है। इसलिए जैन दर्शन में निर्वाण का अर्थ कर्म-क्षय से है।

वहां बचता है केवलज्ञान। अनंत ज्ञान ही दर्शन एवं चारित्र को अपने में समाहित कर लेता है। साधन स्वयं साध्य बन जाते हैं। सिद्धावस्था तक पहुंचने से पूर्व साधक को अपने आध्यात्मिक विकास के मार्ग में क्रमशः बढ़ना होता है। मोक्ष-मार्ग के इन सोपानों को जैन दर्शन में गुणस्थान कहा जाता है।

सत्य ज्ञान की अनुभूति है। ज्ञान अनंत है, पर अनुभूति न हो तो व्यर्थ है। यद्यपि ज्ञान भी आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान की खोज भी साधना से संभव है। गुणस्थान साधना की उस राह में मील के पत्थर हैं।

आरोहण की इस प्रक्रिया में तेरहवीं और चवदहवीं भूमिका में पहुंचने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। बारहवीं भूमिका में मोहक्षय होता है। तेरहवीं में ज्ञानादि अवरोधक अन्य कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। फलतः आत्मा में विशुद्ध ज्ञानज्योति का आविर्भाव होता है। आत्मा की इस अवस्था का नाम सयोगी केवली है।

सयोगी केवली जब विशुद्ध ध्यान के सहारे मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापारों को रोक देता है, तब आध्यात्मिक विकास की अवस्था में पहुंच जाता है—जो समाधि अवस्था है, अनुत्तर है। जो जगमगाहट सूरज में है, ग्रह-वारों में संभव नहीं। समाधि की तुलना नहीं होती, वह अंतर-व्यक्तित्व के विकास की समग्रता है।

समाधि के तीन चरण हैं—एकांत, मौन और ध्यान। एकांत—संसार से दूर। मौन—अभिव्यक्ति से मुक्ति और ध्यान—विचारों से निवृत्ति है।

चउदहवीं भूमिका में आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु की भांति निष्प्रकंप स्थिति को पा लेता है। अंत में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है—यही निर्वाण है। निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, सिद्धगति, सिद्धि आदि इसके पर्याय हैं। यह आत्मा की सर्वाङ्गीणपूर्णता, पूर्णकृतकृत्यता एवं परम-पुरुषार्थ सिद्धि है।

जैनाचार्यों ने मोक्ष के दो प्रकार माने हैं—द्रव्यमोक्ष, भावमोक्ष। जीव जब घाती कर्मों से मुक्त होता है तब भाव-मोक्ष होता है। अघाती कर्मों के क्षय होने पर द्रव्यमोक्ष कहा जाता है। आचार्य नेमीचंद्र के अभिमत से भावमोक्ष की अवस्था अल्प सामयिक होती है, उसके बाद द्रव्यमोक्ष हो जाता है। कुंदकुंदाचार्य के मत से भावमोक्ष की अवस्था वर्षों तक बनी रह सकती है। दुख की आत्यंतिक निवृत्ति—मोक्ष है, इसमें कोई दो मत नहीं।

कुछ लोग मोक्ष की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। उनके अभिमत से मोक्ष में न कोई जिज्ञासा है, न कोई तर्क। न कोई मनोरंजन है, न अन्य उपलब्धि। अकर्मण्य बनना है। उन्हें पता नहीं कि मोक्ष कामना की वस्तु नहीं। मोक्ष अर्थात् अस्तित्व की शुद्धता। मोक्ष न चाहने का अर्थ है—अपने अस्तित्व का अस्वीकार। न चाहने पर भी अस्तित्व से मुक्त नहीं हो सकता। अस्तित्ववादी विचारधारा का केंद्र-बिंदु है—मोक्ष। धर्म साधन है। मोक्ष साध्य है। तर्क उठता है—यदि मुक्तात्माओं का पुनरागमन नहीं है, तो सभी जीवों के मुक्त होने पर क्या संसार जीवशून्य नहीं हो जाएगा?[7] जैन दर्शन के अनुसार यह तर्क आधारहीन है। कारण, जितने जीव मोक्ष में जाते हैं उतने ही जीव निगोद या अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आ जाते हैं।[8] अव्यवहार राशि जीवों का अक्षय भंडार है। जीवों के आयात की मान्यता—जैन दर्शन का गहरा और तलस्पर्शी चिंतन है जो अन्यत्र दुर्लभ है। संसार कभी जीवशून्य हो नहीं सकता।

जीवराशि अनंत है। अनंत का अंत नहीं होता। गणितीय समीकरण में भी संख्या के क्षेत्र में अनंत में से अनंत को निकालें—शेष कितने रहेंगे? उत्तर होगा— अनंत ही। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते (वृ.उ., अ. 5, प्रथम ब्राह्मण 1)—यह सूक्त इसका संवादी कहा जा सकता है।

कर्ममुक्ति की प्रक्रिया में मूल उपादान हैं—संवर एवं

निर्जरा। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। संवर का अर्थ है—मर्यादित जीवन-शैली। अपने अस्तित्व का बोध। निर्जरा परिष्कार की क्रिया है। संवर से कर्मनिरोध होता है। पूर्ण बद्धकर्मों को निर्वीर्य अथवा फलरहित करना निर्जरा है। इस प्रकार जीव के चरम विकास की आध्यात्मिक उपलब्धि मोक्ष है। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. गीता 15/6
2. गीता 4/7-8
3. ज्ञानिनो धर्म तीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्।
   गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थ निकारतः
4. नियमसार 178-179
5. तत्त्वार्थ सूत्र 8/2-3
6. राजवार्तिक 1/4/20
7. द्रव्य संग्रह 37/141
8. स्याद्वाद मंजरी, का. 29, पृ. 259

❖❖

पृष्ठ 37 का शेष

शाश्वत सत्य के अन्वेषक

बन गया। अंतिम लिखत वि. संवत 1859 माघ शुक्ल सप्तमी को लिखा गया। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य ने उस दिन को मर्यादा महोत्सव के रूप में स्थापित कर दिया। तब से प्रतिवर्ष इस दिन को मर्यादा महोत्सव के रूप में मनाया जाता है।

श्रद्धानिष्ठ सत्यशोधक

आचार्य भिक्षु की आगम पर अगाध श्रद्धा थी। आगम से प्राप्त सत्य को उन्होंने बुद्धि की कसौटी पर कसा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'आचार्य भिक्षु कोरे बुद्धिवादी नहीं थे, और कोरे श्रद्धावादी भी नहीं थे। उनमें श्रद्धा और बुद्धि—दोनों का समन्वय था।'

आचार्य भिक्षु ने आगमिक सत्यों को नवीन संदर्भों के साथ व्याख्यायित किया। इस व्याख्या में उन्होंने युक्ति, हेतु, बुद्धि आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उनके साहित्य में आगमिक प्रमाणों की प्रचुरता तो है ही, हेतु का भी भरपूर उपयोग किया गया है। आत्म-धर्म की व्याख्या, अहिंसा, दान, संघ-व्यवस्था आदि की चर्चा करते हुए आचार्य भिक्षु ने लौकिक और लोकोत्तर की भेदरेखा खींची है। उन्होंने समाज को केंद्र में रखकर की गई प्रवृत्ति को लौकिक तथा आत्मा को केंद्र में रखकर की गई प्रवृत्ति को लोकोत्तर बताया। भारतीय चिंतन में उनसे पहले यह बात किसी ने नहीं कही।

इस प्रकार शुद्ध धर्म की प्रतिष्ठा करते-करते अनायास ही वे भारतीय चिंतकों के पुरोधा बन गए। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

भिक्षु की क्रांति का एक ठोस आधार था—शिथिलाचार को दूर कर सम्यक् आचार की पुनः प्रतिष्ठा करना। वे संघटन और विघटन के कारणों के मर्मज्ञ थे। श्रमण-संघ को अपना भोगा हुआ अतीत पुनः न दोहराना पड़े, युग के साथ आने वाली दुर्बलताएं श्रमण-संघ में हावी न हो जाएं—उसके लिए उन्होंने अनेक मर्यादाएं बनाई। उन मर्यादाओं की सुरक्षा के लिए चारों ओर अनुशासन और सहिष्णुता के परकोटे का निर्माण किया।

❑ ❑

भिक्षु की क्रांति का आलोक

❑ साध्वी विमलप्रज्ञा ❑

क्रांति शब्द सीधा मन में हलचल पैदा करता है। क्रांति का अर्थ ही परिवर्तन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि क्रांति करने वालों को संघर्ष करना पड़ता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि क्रांति हिंसाजन्य ही होती है। क्रांति के अनेक रूप हैं—वह ध्वंस का दृश्य भी दिखा सकती है और सृजन की हरियाली भी खिला सकती है। वह खून की नदी भी बहा सकती है और विकास के नए क्षितिज भी खोल सकती है।

अनेक क्रांतियां विश्व में प्रसिद्ध हुई हैं। उन क्रांतियों में उस समय की परिस्थितियां निमित्त बनीं। अन्याय को सहते-सहते जब सहिष्णुता की शक्ति चुक जाती है तब क्रांति का स्वर फूट पड़ता है। ऐसा देखा गया है कि शोषण और अत्याचार के प्रति बगावत का लावा भीतर ही भीतर पकता रहता है और एक दिन ज्वालामुखी बनकर फूट पड़ता है। ऐसी क्रांतियों के पीछे अधिकार की मांग होती है। न्याय की पुकार भी उनमें होती है; अत्याचार के प्रति विद्रोह की आग भी।

आषाढ़ पूर्णिमा
तेरापंथ स्थापना दिवस

क्रांति चाहे व्यापक स्तर पर हो या सीमित क्षेत्र में हो, चाहे सफल हो या असफल—अपने पीछे एक बार वह चेतना की लहर अवश्य छोड़ जाती है। पूरा वातावरण उससे प्रभावित हो जाता है।

धर्म का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। जब-जब धार्मिक क्षेत्र में शिथिलता आई, अध्यात्म की फसल सूखने लगी—तब-तब क्रांति का स्वर उठा है। ऐसी ही एक धर्म-क्रांति के सूत्रधार आचार्य भिक्षु भी बने। वि. संवत 1817, चैत्र शुक्ला नवमी—क्रांति का स्वर गूंज उठा। भिक्षु ने क्रांति की बागडोर संभाली। क्रांति के उस मोर्चे पर उनके केवल चार सहयोगी साधु—टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी थे। उस समय की परिस्थितियां भिक्षु के अनुकूल नहीं थी। पग-पग पर विरोध और विपत्तियों के पहाड़ खड़े कर दिए गए थे। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं पर भी प्रतिबंध लगा था। न पेटभर खाने को आहार था, न रहने को स्थान।

तब प्रश्न उभरता है—ऐसी परिस्थितियों में तेरापंथ का जन्म कैसे हो गया? तेरापंथ की सफलता का रहस्य क्या था? बिना किसी साधन-सामग्री के तेरापंथ ने विकास के शिखर पर आरोहण कैसे किया?

किसी भी कार्य या क्रांति की सफलता के लिए परिस्थितियां या साधन-सामग्री प्रमुखतः जिम्मेवार नहीं हैं, ये सहायक-भर ही होती हैं। मूल है—क्रांति की बागडोर किन हाथों में थमी हुई है? उसका अपना लक्ष्य निर्धारित है या नहीं? क्रांति करने वाले लक्ष्य के प्रति समर्पित हैं या स्वार्थ-चेतना में उलझे हुए हैं?

योग्य और दूरदर्शी व्यक्तित्व या नेतृत्व क्रांति के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है। मात्र शौर्य से युद्ध नहीं जीते जाते। उसके साथ संगठन और कुटनीतिज्ञता, दूरदर्शिता और धैर्यशीलता भी चाहिए।

वृहत्कल्प के भाष्यकार ने भी इसी सत्य को उजागर किया है—

सुह साहगंपि कज्जं करण विहूणमणुवायं संजुत्तं
अन्नायऽदेशकाले विवत्तिमुवजाति सेहस्य

अज्ञ व्यक्ति के द्वारा प्रारंभ सुखसाध्य कार्य भी सिद्ध नहीं होता—यदि वह प्रयत्न और उपाय से शून्य होता है, सही स्थान और सही समय पर प्रारंभ नहीं किया जाता है।

माना जाता है कि प्रासाद में उगे हुए अभिनव वृक्ष का नख से छेदन किया जा सकता है, पर वही वृक्ष जब शाखा-प्रशाखाओं से विस्तार पा लेता है, तब वह दुश्छेद्य हो जाता है और उसकी वृद्धि प्रासाद तक का छेदन भी कर सकती है। अभिनव वृक्ष को समूल छिन्न करने पर ही प्रासाद सुरक्षित रहता है। इसलिए उचित देश और काल में उपाय-कौशल से किया जाने वाला दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य बन जाता है।

कर्ता के अनुरूप ही कार्य की सिद्धि या असिद्धि होती है। कर्ता कालज्ञ या उपायज्ञ है, तो कार्य सिद्ध हो जाएगा। अन्यथा कार्यसिद्धि नहीं होगी।

आचार्य भिक्षु की क्रांति के मूल में भी सुविधावाद, आचार-शैथिल्य, आसक्ति तथा शिष्यों की भूख जैसी बातों के विरुद्ध विद्रोह था। स्वयं आचार्य भिक्षु के शब्दो में—

(1) वैराग घटियों ने भेष वधियों, हाथ्यां रो भार गधां लदियो।
थक गया बोझ दिया रालो एहवा भेषधारी पांच में कालो।।

❑❑

(2) आये फाटे धीगरी कुण छै देवणहार।
ज्यूं गुर सहित गण बिगड़ियो त्योरै चिहूं दिश परिया वधार।।

साधुओं के आचार-शैथिल्य को लेकर श्रावक समाज में असंतोष बढ़ रहा था। अश्रद्धा का भाव बल पकड़ रहा था। राजनगर के श्रावकों की बढ़ती हुई अश्रद्धा ने चिनगारी का काम किया। धार्मिक क्षेत्र में एक भयंकर विस्फोट हो गया। आचार्य भिक्षु ने इस क्रांति की बागडोर संभाली।

योग्य और दूरदर्शी नेता के हाथ में इसकी लगाम थमी थी। इसलिए यह क्रांति सफलता के शिखर पर चढ़ गई। भिक्षु की उस क्रांति में साथ देने वाले उस समय केवल चार व्यक्ति थे। क्रांति की बात करने वाला श्रावक समाज भी संशय के घेरे में खड़ा था। वह सोचता था—पहले भी शिथिलाचार को लेकर अनेक उत्क्रांतियां हो चुकी हैं, लेकिन वे स्थायित्व को प्राप्त नहीं कर सकीं। यह क्रांति भी एक दिन बिखर कर समाप्त हो जाएगी। इस संशय ने भिक्षु के मार्ग में अनेक कांटे बिछा दिए। पग-पग पर संघर्ष और विरोध के पहाड़ खड़े हो गए। लेकिन भिक्षु ने इन संघर्षों को विकास का राजमार्ग और आत्मबल का मापदंड माना।

भिक्षु की क्रांति का एक ठोस आधार था—शिथिलाचार को दूर कर सम्यक् आचार की पुनः प्रतिष्ठा करना। वे संघटन और विघटन के कारणों के मर्मज्ञ थे। श्रमण-संघ को अपना भोगा हुआ अतीत पुनः न दोहराना पड़े, युग के साथ आने वाली दुर्बलताएं श्रमण-संघ में हावी न हो जाएं—उसके लिए उन्होंने अनेक मर्यादाएं बनाई। उन मर्यादाओं की सुरक्षा के लिए चारों ओर अनुशासन और सहिष्णुता के परकोटे का निर्माण किया।

भिक्षु उपायज्ञ थे। वे संगठन और आचार की नींव को मजबूत बनाने वाले उपायों को जानते थे। उन्होंने अनुशासन के परकोटे में कहीं भी छेद नहीं होने दिया। वे जानते थे, एक-एक छेद मिलकर एक दिन वे बड़े छेद में बदल जाएंगे। इसलिए हर छेद का वे तत्काल उपचार कर देते।

चूंडावत में फत्तूजी आदि साध्वियों को स्वामीजी ने कहा—तुम लोग आवश्यकतानुसार कपड़ा ले लो। उन्होंने कपड़ा लिया और ठिकाने चली गई। बाद में स्वामीजी को संदेह हुआ—कपड़ा कल्प से अधिक है। तत्काल कपड़ा मंगाया। उसे मापा, संदेह सच में बदल गया। उन्हें उपालंभ दिया। उनके आचार पर अप्रतीति होने के कारण उन्हें संघ से अलग कर दिया।

वे संघ के हर सदस्य के भीतर आचार-निष्ठा का दीप जलाना चाहते थे। इसलिए अपने प्रिय शिष्य भारमलजी से कहा—तुम्हारा कोई भी कार्य ऐसा न हो जिससे कोई गृहस्थ त्रुटि निकाल सके। गृहस्थ के त्रुटि निकालने पर तुम्हें त्रुटि के दंडस्वरूप तेला करना पड़ेगा। इस प्रकार आचार की प्रतिष्ठा के लिए अनुशासन की लगाम को कसे रखा।

आचार्य भिक्षु ने उन्हीं व्यक्तियों को महत्त्व दिया जो लक्ष्य के प्रति समर्पित थे। वे जानते थे कि एक सड़ा हुआ पान जिस प्रकार सारे पानों को नष्ट कर देता है, ठीक इसी प्रकार एक आचारहीन व्यक्ति को संघ में महत्त्व देने का अर्थ है—संघ की प्रतिष्ठा को विनष्ट करना। उन्होंने कहा—

कहो साधु किसका सगा तड़कै तोड़े नेह
आचारी स्यूं हिलमिलै अणाचारी सू छेह।

आचार्य भिक्षु ने किसनोजी को अपने संघ में नहीं रखा। क्यों? किसनोजी उग्र प्रकृति थे। स्वीकृत आचार के प्रति उनका समर्पण नहीं था। तब आचार्य भिक्षु ने स्पष्ट रूप से कह दिया—मैं तुम्हें अपने पास नहीं रखूंगा। उनके

कहने पर आचार्य भिक्षु ने आचार्य जयमलजी के पास उनकी व्यवस्था कर दी।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की नींव रखने से पहले ही शिथिलाचार के कारणों का मूलोच्छेद कर दिया। संघ के प्रत्येक सदस्य के मन में मर्यादाओं के प्रति बहुमान जागृत किया। कालांतर में वे मर्यादाएं रूढ़ि बनकर घुटन पैदा न कर दें, इसलिए वैधानिक स्तर पर विचार-प्रेरित उत्क्रांति का द्वार खुला रखा।

एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—आपका यह उत्क्रांति मार्ग कितने वर्षों तक चलेगा? आचार्य भिक्षु ने कहा—इस मार्ग का अनुगमन करने वाले साधु-साध्वियां श्रद्धा और आचार में सुदृढ़ रहेंगे, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे, स्थानक खड़े करने के फेर में नहीं पड़ेंगे तब तक यह मार्ग चलेगा।

यह समाधान एक संत की आत्मा से निकला था। जिसने संघर्ष के झंझावातों के बीच खड़े रहकर आचार के दीप को बुझने नहीं दिया। आचार्य भिक्षु की इस क्रांति में सम्मिलित व्यक्तियों की संख्या अल्प थी, लेकिन धार्मिक इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

भिक्षु की क्रांति की सफलता का रहस्य था—

- वह सत्य की नींव पर खड़ी थी।
- आचार के लिए मर-मिटने वाले साधु-साध्वियां इसके अनुगामी बने।
- भिक्षु ने अपनी रत्ती-रत्ती शक्ति को संघ-विकास में खपा दिया। सुविधावाद उन पर हावी नहीं हो पाया।
- स्वार्थ की पूर्ति में आचार-शैथिल्य को उभरने नहीं दिया। ❖

क्या हमारे जीवन का कोई गंभीर अर्थ है, उसे उपलब्ध करने के लिए इसका कोई उद्देश्य है? यदि हां, तो वह उद्देश्य क्या है? यदि मृत्यु अनिवार्य है तब जीवन की विषमताओं तथा समस्याओं के विरुद्ध हर तरह से उत्तेजनापूर्ण संघर्ष करने का हमारा क्या औचित्य है? यदि ईश्वर कृपालु है और इस विश्व का सर्जक है तब उसका सृजन इतना अधिक अपूर्ण क्यों है?

विश्वविद्यालय में अपनी पढ़ाई के दौरान व्यक्ति को इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिल पाता। यह उत्तर न तो धन और शक्ति से और न ही गरीबी तथा त्याग से प्राप्त होता है। फिर भी, इन प्रश्नों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

कई तरह से, बहुधा—क्या यह नहीं कहा गया है कि विश्व एक माया है। जो विश्व आज हमारे समक्ष है, संभवतः उसका अधिकांश अंश माया है, सत्य से दूर है। परंतु यदि सत्यानुभूति के लिए व्यक्ति को विश्व का परित्याग करना पड़े तो ईश्वर ने इसका सृजन ही क्यों किया? महान आत्माएं समय-समय पर यहां क्यों अवतरित होती हैं और विश्व को ज्योति की लौ दिखाने का प्रयास करती हैं? क्या कोई व्यक्ति सचमुच उस विश्व का स्वयं कभी त्याग कर सकता है, जिससे वह उत्पन्न हुआ है।

बहुत पहले 'धर्म' ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया था : सभी प्रकार के आश्चर्यों में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया : दिन-प्रतिदिन अनेक व्यक्ति संसार छोड़कर मौत के घर जा रहे हैं। फिर भी, जीवित व्यक्ति इस भांति सोचता और क्रियाशील रहता है मानो वह अमर हो। इससे अधिक आश्चर्यजनक और क्या हो सकता है?

यह आश्चर्य युधिष्ठिर के कई हजार वर्ष बाद, आज भी दृढ़ता से चला जा रहा है—यह कम आश्चर्यजनक बात नहीं है।

—मनोज दास

गरिमा की गोल-गोल प्यारी-प्यारी आंखों में आज अलग ही चमक है। 'मैं अपनी बहन के साथ यह करूंगी, मैं वह करूंगी...' वह कल्पनाओं की लंबी उड़ान भरती है। उसे बहन चाहिए, क्योंकि वह उसके साथ घर-घर खेलेगी। गुड़िया खेलेगी, एटेपु खेलेगी। बहन होगी तो उसकी बात मानेगी। भाई का तो बस एक ही काम है कि वह उसे राखी बांध सकती है।

❑ बालकथा ❑

मम्मी मोटी क्यों है : प्रांशु के पंख लगाओ

❑ परिमिता पी लौढा ❑

गरिमा आज बहुत खुश है। इतनी खुश कि, न उसे खेलने जाना है, न ड्राइंग करनी है, न साइकिल चलानी है और न ही टीवी देखना है। बस, मम्मी से बातें करनी है। गरिमा कहती है कि जब किसी की मम्मी बहुत मोटी हो जाती है तब वह छोटा भाई या बहन लाती है। गरिमा की मम्मी भी बहुत मोटी हो रही है, पर गरिमा को अभी तक यह पता नहीं चल पाया है कि उसकी मम्मी भी क्या उसके लिए भाई या बहन लाने वाली है? दो-तीन बार उसने मम्मी से पूछा भी, पर ठीक-ठीक पता नहीं चला।

बालमन की अतल गहराइयों को नाप लेना बड़ा दुष्कर है। जितना यह दुष्कर है, उतना ही श्रेयष्कर भी। बालमन की सहज बातें बड़ों को बहुत-कुछ सिखा देती हैं और संताप भी हर लेती हैं। पर, आज बड़ों के पास समय ही कहां हैं कि वे बालमन की मीठी-मीठी, प्यारी-प्यारी बातें सुनें और उनकी गहराइयों को समझें। जिनके पास है समय—वे कभी कुंठाग्रस्त नहीं हो सकते। हताशा-निराशा को हर लेने वाली बालमन की ऐसी ही सहज-सरल बात जैन भारती के पाठकों के लिए—

पर, आज गरिमा खुश-खुश है। क्योंकि उसे पता चल गया है कि उसकी मम्मी भी इसीलिए तो मोटी हो रही है कि उसके घर भी भाई या बहन आएगा। इसीलिए आज उसे कुछ नहीं करना है। बस, मम्मी से बातें करनी हैं।

गरिमा की गोल-गोल प्यारी-प्यारी आंखों में आज अलग ही चमक है। 'मैं अपनी बहन के साथ यह करूंगी, मैं वह करूंगी...' वह कल्पनाओं की लंबी उड़ान भरती है। उसे बहन चाहिए, क्योंकि वह उसके साथ घर-घर खेलेगी। गुड़िया खेलेगी, एटेपु खेलेगी। बहन होगी तो उसकी बात मानेगी। भाई का तो बस एक ही काम है कि वह उसे राखी बांध सकती है।

पर, अगले ही पल गरिमा सोचती है, भाई भी ठीक है। कम-से-कम राखी तो बांध दूंगी। गरिमा को समझ नहीं आ रहा कि वह भगवान से क्या मांगे(?)—भाई या बहन। कभी वह भाई के बारे में बात करती है, कभी बहन के बारे में। कभी कहती है एक भाई, एक बहन—दोनों चाहिए।

कुछ ही समय में वह भाई-बहन की उधेड़बुन से बाहर निकलती है। अब वह अपनी शर्तों की लंबी सूची रखती है। भाई या बहन—जो भी होगा, सबसे पहले मैं गोद में लूंगी। उसे पढ़ाने से लेकर, खिलाने-पिलाने और नहलाने का काम भी मैं ही करूंगी, पर 'सूसू' साफ करने का काम मम्मी का होगा। उसकी यह शर्त बड़ी ही मजेदार है—अगले जन्मदिन तक उसका भाई या बहन आ जाना चाहिए।

गरिमा को अब एक अलग कमरा चाहिए, जिसमें वह अपने भाई या बहन के साथ रहेगी। उसकी सबसे बड़ी शर्त है कि जो भी आएगा—वह उसे दीदी ही बोलेगा, अन्यथा वह कुट्टी हो जाएगी। जो आएगा उसका नाम भी वही रखा जाएगा जो गरिमा कहेगी। हां, नाम को लेकर उसने अभी कुछ खास नहीं सोचा है। कभी कहती है, उसका नाम भी 'ग' से होगा। कभी कहती है कि भाई तो पागल जैसे होते हैं, इसलिए भाई का नाम भी पागल जैसा होना चाहिए। इस लिहाज से उसने 'मुगले-आजम' नाम रखा है। फिर कहती है कि मम्मी ने उसका नाम अकबर रखा होता तो वह अपने छोटे भाई या बहन का नाम रखती बीरबल। तब कितना मजा आता। क्योंकि वे आपस में ही चुटकुले सुनाते रहते।

मम्मी से बातें करते हुए घंटों बीत गए, पर उसकी बातें अभी बाकी हैं। आंखों में नींद है, उबासियां भी आ रही हैं, पर उसे अभी भी बातें करनी हैं।

पर, तभी वह कहती है—'सो ही जाती हूं। क्या पता, भगवान सपने में आकर बता दें कि वे उसे क्या देने वाले हैं—भाई या बहन?'

गरिमा नींद में भी हंस रही है, मुस्करा रही है। शायद वह कोई सपना देख रही हो।

× × ×

प्रांशु दो साल का है। बेहद नटखट। शैतानी से लबालब और चंचल। उसके पास ढेर-सारे सवाल हैं, पर किसी के पास उन सबके जवाब नहीं और जो जवाब उसके पास हैं, उन जवाबों का कोई काट नहीं। घर में मम्मी-पापा के अलावा रिनी दीदी है। रिनी सात साल की है। भोली-भाली प्यारी-सी। पर प्रांशु से उलट, एकदम शांत। दोनों भाई-बहनों में हर बात पर झगड़ा होता है, पर कोई अन्य उनमें से किसी एक को भी कुछ कहे, तो भाई-बहन को बर्दाश्त नहीं।

प्रांशु को संतरे वाली 'टॉफी' बहुत पसंद है। टॉफी पाने के लिए प्रांशु कुछ भी करने को तैयार है। सीधा बैठ सकता है, चुप रह सकता है, कुछ भी कर सकता है। पर एक बार संतरे वाली 'टॉफी' हाथ लगी कि प्रांशु सारे वादे भूल जाता है। 'टॉफी' जब तक मुंह में है, तब तक खिलौने तोड़ना, फेंकना, मारना-पीटना, कपड़ों पर हाथ पौंछना—सब चलता है। ज्योंही 'टॉफी' खत्म हुई, प्रांशु को अपने किए सारे वादे याद आने लगते हैं। अब प्रांशु कपड़े गंदे नहीं करेगा, अब प्रांशु बिस्तर पर जूते नहीं ले जाएगा, अब प्रांशु कुत्तों को पत्थर नहीं मारेगा, अब प्रांशु झगड़ा नहीं करेगा आदि-आदि। और आखिर में वही बात, आप मुझे संतरे वाली 'टॉफी' दोगे ना!

प्रांशु की शैतानियां बहुत अच्छी लगती हैं। उतनी ही अच्छी है—उसकी समझ। स्कूल जाने से प्रांशु को चिढ़ है। क्योंकि वहां मैडम होती है और बच्चों को मैडम की बात माननी पड़ती है। बात मानना प्रांशु को अच्छा नहीं लगता। जो मन आए, वही करना प्रांशु को अच्छा लगता है। यह बात अलग है कि संतरे वाली 'टॉफी' दी जाए, तो प्रांशु भी बात मान सकता है।

प्रांशु का घर हवाई अड्डे के पास है। छोटे-बड़े हवाई-जहाज उसके घर के ऊपर से आते-जाते रहते हैं। आकाश में उड़ते हुए हर तरह के हवाई-जहाज उसने देखे हैं। छोटा हवाई-जहाज, बड़ा हवाई-जहाज, पंखे वाला हवाई-जहाज (हैलिकॉप्टर), इंग्लैंड का हवाई-जहाज, अमेरिका का हवाई-जहाज और इंडिया का हवाई-जहाज। प्रांशु को आकाश में ताकते रहना अच्छा लगता है। जब-कभी घर में शांति हो, तब समझिए प्रांशु आकाश में उड़ रहे पक्षियों को, चिड़िया, कबूतर या कौअे को देख रहा होता है। या फिर हवाई-जहाज को।

एक दिन प्रांशु बोला कि उसे पता चल गया है कि हवाई-जहाज कैसे उड़ता है? उसके पंख होते हैं। कौअे ने उसे बताया कि पंख लगा देने से कोई भी उड़ सकता है। हवाई-जहाज भी पंख लगने से उड़ता है, कौआ भी पंख से उड़ता है। अब प्रांशु की नई जिद्द है कि उसके भी पंख लगवाओ। उसे भी उड़ना है। प्रांशु को पंख लगा दो तो प्रांशु भी उड़ सकता है। ❖

With best compliments from :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

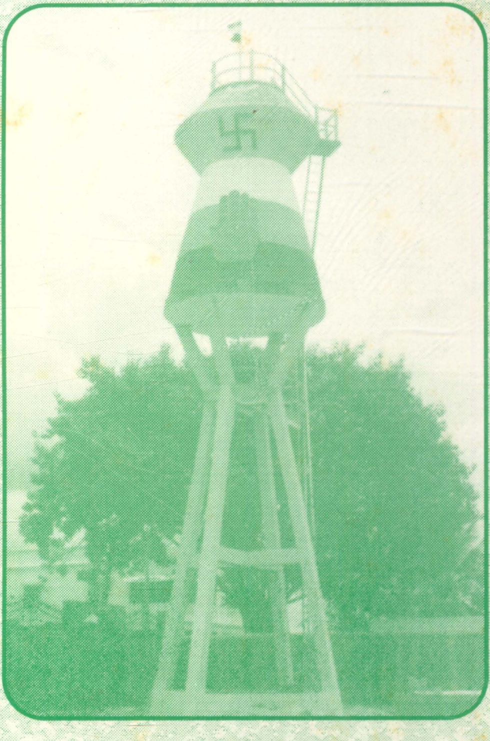

Overhead Water Tank 36,000 Ltrs. Capacity and 51 feet Height at
'ACHARYA SRI TULSI MAHAPRAGYA CHETANA KENDRA'
Designed and constructed by

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, Bangalore 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

जैन भारती, जुलाई, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

सिरियारी आगमन पर आचार्यश्री महाप्रज्ञ का भाव-भरा अभिनन्दन.....

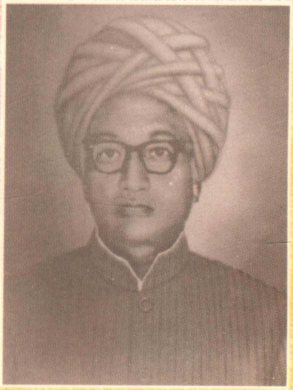

बस्तीमलजी छाजेड़

मनोहर, माँगीलाल, श्रीमती विमलादेवी, शान्तिलाल
संजय, मनीष, नवीन छाजेड़

Sha Mangilal Shantilal & Co.

Manufacturers and Wholesale Suppliers of

Pure Silk Sarees, Handloom Silks, Pure Crapes and Art Silk Sarees

'Shanti Bhavan', 64, A.M. Lane, (19-25, First Cross, D.K. Lane)

Chickpet, Bangalore 560053

Phone : Shop : 22261462, 22205965 Fax : 080-22384004

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।